क्रिया योग रहस्य

लेखक :

माहेश्वरी प्रसाद दूबे

महावीरपुरम्

गो र ख पु र

क्रिया योग रहस्य

[श्री श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय के क्रिया योग पर एक विहंगम् दृष्टि]

卐

लेखक :

माहेश्वरी प्रसाद दूबे

महावीरपुरम्

गोरखपुर

[मूल्य : ५ रुपये
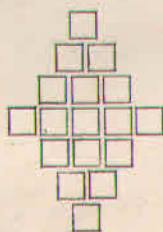
क्रिया योग रहस्य

श्री श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय के क्रिया-योग पर एक विहंगम दृष्टि ।

ॐ अखंड मण्डलाकारं, व्यप्तं येन चराचरम् ।
तत् पदम् दर्शितं येन, तस्मै श्री गुरवेनमः ॥

क्रिया योग पर अनेक लोग बंगला भाषा में अनेक पुस्तकें लिखें हैं। श्री श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय के विषय में उनकी जीवनी हिन्दी और बंगला दोनों भाषाओं में लिखी है। इस क्रिया योग के विषय में जो श्री लाहिड़ी महाशय द्वारा प्रचारित हुआ था, उसमें लिखने के लिए कुछ विशेष नहीं है; इसमें जो कुछ है, वह सब कुछ करने का ही है। कुछ क्रियावानों के आग्रह के कारण मैंने इस पर थोड़ा प्रकाश डाला है। नये क्रियावानों की, क्रिया को किस क्रम से किया जाय, इसकी जानकारी इसमें दी गई है एवं उच्च क्रियावान को प्रेरणा देने के लिए क्रिया की कुछ उपलब्धियों का भी जिक्र किया गया है।

आशा है कि क्रियावान इससे कुछ प्रेरणा पायेंगे। यही इस पुस्तक का लक्ष्य है।

"श्री गुरु चरणार्पितं"

माहेश्वरी प्रसाद दुबे

ॐ श्रीगुरवे नमः।

श्री गणेशाय नमः।

यह संसार है। इसमें सृष्टि के प्रारंभ से अनन्त जीव अपने कर्मों का भोग कर रहे हैं। कृमि से लेकर देवताओं तक अपने-अपने ढंग के भोग भोगने में संलग्न हैं। सभी ईश्वर की माया के वशीभूत हैं। हमारे शास्त्रों के अनुसार सृष्टि के आरंभ होने के पूर्व केवल अविनाशी ब्रह्म ही सर्वत्र विद्यमान था। उपरांत उसकी त्रिगुणात्मक प्रकृति के द्वारा सृष्टि का विस्तार हुआ। सांख्य के अनुसार "सत्य रजस्तमस्य साम्यावस्था प्रकृति" तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। इन्हीं गुणों में से सर्व-प्रथम सतोगुण का विकास हुआ और देवताओं आदि की प्रथम सृष्टि हुई। ब्रह्मा जी का प्रथम प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने अपने संकल्प द्वारा ऋषियों और देवताओं को उत्पन्न किया। फिर उन्होंने इस सृष्टि को और व्यापक बनाने के लिए संकल्पात् सृष्टि को मैथुनि सृष्टि का रूप दिया। इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने अपने संकल्प से पुरुष एवं स्त्री का जोड़ा (मनु-शतरूपा) उत्पन्न किया और उन्हें प्रजा की सृष्टि करने का आदेश दिया। सृष्टि बढ़ने लगी। इसमें अनगिनत जीवात्माएँ आकर अपने कर्मों के अनुसार नाना प्रकार की योनियों में प्रवेश कर सृष्टि की आवश्यकताओं को पूर्ण करने लगे। हमारे शास्त्रों के अनुसार स्थूल सृष्टि में प्रथम मानव की उत्पत्ति हुई। परन्तु आज का विज्ञान, इसके विपरीत एक कोशीय जीव की रचना की सृष्टि का प्रथम जीव मानता है। जो भी हो हमारा शास्त्र ही हमें विश्वसनीय मालूम पड़ता है। एक बात तो अब सभी स्वीकार करते हैं कि कीट, पतंग एवं वनस्पतियों तक में प्राण का अवस्थान है। अर्थात् यहाँ सब कुछ प्राणमय है। शास्त्रों में तो पहले से ही "सर्व प्राणमयम् जगत" का वाक्य गूँजता रहा।

अतएव संसार में जितने रूप दिखाई पड़ते हैं, उन सबमें आत्मा है। यह आत्मा क्या है, इसे जानना आवश्यक है। हम देखते हैं कि जब कोई जीव मरता है, तो उसका स्थूल शरीर विनाश को प्राप्त हो जाता है, परन्तु जिसके रहने से उसमें गतिशीलता थी, वह प्राण उस शरीर को छोड़कर कहाँ चला जाता है एवं उसका स्वरूप क्या है, इसे जानने का कोई प्रयत्न नहीं करता। यह प्राण ही सब कुछ है। हम भोजन करते हैं परन्तु हमारी जानकारी के बिना ही वह अपने आप पेट में पचता है तथा उस पचे हुए भोजन के रस से शरीर के लिए आवश्यक तत्व (रक्त, मांस,

मज्जा, हड्डी, वीर्य आदि) स्वतः बन जाते हैं। ये सब प्रक्रियाएँ कौन करता है? हमारे शरीर में कौन है, जो भोजन का स्वाद ग्रहण करता है वह कौन है? जो हृदय और श्वांस को चलाता है? जिसके न रहने पर शरीर मृत हो जाता है, वह शक्ति क्या है? इन सब प्रश्नों का एक उत्तर है प्राण! यह प्राण (आत्मा) ही हमारे समस्त कार्यों का सम्पादन करता है। यह प्राण हमारी इतनी सेवा करता है, फिर भी हम इसे जानते नहीं हैं। इस प्राण को यदि जानने की कोशिश करें तो हमें, जो इसको जानता हो, उसकी शरण में जाना पड़ेगा। यहीं से गुरु परम्परा का प्रारम्भ है तथा उसे जानने के लिए जो कुछ किया जाता है, उसी को धर्म कहते हैं। जब हम प्राण को जान जायेंगे, तभी हम यह भी समझ सकते है कि यह प्राण जो हमारी इतनी सेवा करता है, उसकी सेवा कैसे की जाय तथा वह कैसे तृप्त हो सकता है?

हमारे शास्त्र हमें प्राण के विषय में बहुत कुछ या यों कहिए कि सब कुछ बतलाते हैं। भारतवर्ष में ऋषियों, मुनियों ने इस प्राण विज्ञान की खोज में बहुत तप (परिश्रम) किया। अन्ततोगत्वा वे इसके रहस्यों को जान गये और उस प्रयास के समस्त अनुभव एवं प्राप्ति के सभी उपाय उन्होंने शास्त्रों में लिख भी दिया। इसलिए आज हम उनके आभारी हैं। कोई ऐसा समय था, जब लोग साधना को ही अपने जीवन का प्रथम उद्देश्य समझते थे और सांसारिकता को केवल शरीर की निम्नतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही स्वीकार करते थे। इसी काल में शास्त्रों की रचना मौखिक रूप से प्रारम्भ हुई। उस समय गुरु लोग शिष्यों को अपना साधन लब्ध ज्ञान कंठस्थ करा देते थे। इसी गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा, वह अमृत ज्ञान हमें आज भी उपलब्ध है। जन संख्या की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य का जीवन धीरे-धीरे अधिक सांसारिक हो गया एवं साधना को वह गौण समझने लगा। इसके फल स्वरूप साधारण जन मानस से आत्मोपासना दूर हो गयी। कुछ साधु सन्त ही ऐसे बचे जो इसके जीवित रखे।

यों तो संसार के अन्य देशों में भी अनेक संत हुए हैं जो अपने धर्मोपदेशों द्वारा वहाँ की जनता को मार्ग दर्शन करते रहे, परन्तु भारतवर्ष में तो इतने महात्मा हुए हैं कि उनकी पूरी गणना करना असंभव-सा है। आत्मोपासना को प्रधानता देने के ख्याल से ही हमारे ऋषियों ने जीवन को चार आश्रमों में विभाजित किया—

ब्रह्मचर्य (ज्ञान प्राप्ति काल)।

गृहस्थ (सांसारिकता का काल)।

वानप्रस्थ (सांसारिकता से दूर होकर ईश्वर भजन एवं एकांतवास काल)।

संन्यास (पूर्ण रूपेण ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाने का काल) आदि।

इसमें देखा जाय तो सांसारिकता के लिए केवल जीवन का एक चौथाई भाग ही दिया गया है। इसके विपरीत आज का मनुष्य पूरा जीवन सांसारिकता को ही समर्पित कर दिया है। लोग साधना के नाम से घबड़ाते हैं और कहते हैं कि मौज मस्ती करो। भगवान को बुढ़ापे में भजेंगे। परन्तु जब बुढ़ापा आता है तो तृष्णा और आसक्ति इतनी तीव्र हो उठती है कि अपने पोते, पोतियों के साथ ही रहना पसन्द करते हैं तथा उनके लिए नाना प्रकार की बेईमानी और पाप करने में जरा भी नहीं हिचकते। यद्यपि अधिकांश परिवारों में वृद्ध लोग उपेक्षित ही रहते हैं फिर भी वे अपने पुत्र-पुत्रवधू पोते, परपोतों की गुलामी में ही सर्वदा लीन रहते हैं। यहाँ तक कि जब वे मरते हैं तो उन्हीं बेटे, बेटियों, पोते, पोतियों को अंतिम बार देखने की इच्छा व्यक्त करते हैं, जिन्हें सारा जीवन देखते रहे एवं प्रायः उनसे अपमानित भी होते रहे, फिर भी उन्हें देखने के लिए लालायित रहते हैं, भगवान को नहीं भजते। यह सब इसलिए होता है कि वे सारा जीवन इसी के अभ्यास में रत रहे। भगवान या आत्मोपासना को नगण्य समझकर उससे दूर रहे। यही कारण है कि आज मानव सारी सुविधाओं के रहते हुए भी अशांत और दुःखी है। इसके पीछे एक ही कारण दृष्टिगत होता है कि जो प्राण आनन्द का अनुभव करता है तथा शांति प्रदान करता है उसे पूर्णतया भूलकरः अशांत माया के पीछे ही सारा जीवन उत्सर्ग कर दिया जा रहा है।

आदिकाल में जब संसार के अन्य देशों में लोग जीवन जीने का संघर्ष कर रहे थे, उस समय इस पावन कर्म भूमि भारत में वेदों की रचना हो रही थी। हजारों वर्ष पहले जो वेद, उपनिषद्, पुराणादि लिखे गये वैसे ज्ञान और साहित्य की रचना आज भी कोई देश नहीं कर पाया। हमारा यह गौरवशाली इतिहास कालान्तर में जब हम उनके महत्व को भूल गये, प्रायः मृत सा हो गया। हम आपस में विभाजित हुए, अपने

शास्त्रों को भूल बैठे, या यों कहिए कि उनके अर्थ को समझने में असमर्थ हो गये, तो जो ही बाहर से आया हमें परास्त कर दिया तथा अपने विचारों को, धर्म पद्धति को हम पर लादने की चेष्टा की। उन्हें कुछ सफलता भी मिली। कुछ लोग भय, लोभ और अपने धर्म के प्रति अज्ञानता के कारण अन्य धर्मों को स्वीकार भी कर लिए। परन्तु हमारा धर्म तो आत्मोपासना था; अतः वह पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो पाया। आज भी इस देश में अन्य धर्मावलम्बी अल्प संख्या में ही हैं।

इस सृष्टि में मानव सर्वश्रेष्ठ है। इसलिए उसका कार्य भी अन्य जीवों से श्रेष्ठ होना चाहिए। मनुष्येतर जीव तो केवल आहार, निद्रा, भय, मैथुन में ही रहते हैं क्योंकि ईश्वर ने इन भोग योनियों में उनको सीमित बुद्धि दिया है। साथ ही साथ उनको जन्म के साथ ही सब ज्ञान (जितना उन्हें प्रयोजन है) ईश्वर दे देता है। गाय का बछड़ा पैदा होने के कुछ ही देर बाद दौड़ने लगता है। यदि उसे पानी में फेंक दिया जाय तो तैर भी सकता है। मनुष्य के साथ ऐसा कुछ नहीं है। उसे सब कुछ धीरे-धीरे सीखना पड़ता है; परन्तु ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि का अपार भण्डार दिया है। मनुष्य उस बुद्धि का थोड़ा ही भाग उपयोग में ला पाता है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी उसका १० से १५ प्रतिशत ही काम में लापाते हैं। मनुष्य अन्य जीवों से श्रेष्ठ इसलिए है कि वह अपनी साधना से सृष्टि के रहस्य को जान सकता है एवं मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। इस बुद्धि भण्डार के कारण ही मनुष्य यदि कोई गलत कार्य करता है तो उसे पाप भी लगता है। अन्य जीव पाप-पुण्य से मुक्त होते हैं। यदि मानव धर्म पालन (साधना) छोड़ दिया तो वह मनुष्य कहलाने के योग्य नहीं रहता। मनुष्य को उसके इसी कर्त्तव्य को याद दिलाने के लिए अनेक महात्मा समय-समय पर पैदा होते हैं। इन्हीं महात्माओं में उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में योगावतार श्री श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय का आविर्भाव हुआ। उन्होंने हिमालय में अपने गुरु "श्री बाबा जी महाराज जो हजारों वर्ष से तपस्यारत हैं, (आज भी जीवित हैं) उनसे क्रिया योग की दीक्षा ली। इस सावित्री दीक्षा को गृहस्थों में वितरण करने का आदेश भी उनसे ले लिये। इसके फल-स्वरूप जप, कीर्तन, यज्ञ और मूर्ति उपासना तक से ही संतुष्ट रहने वाले गृहस्थ, जो आत्मोपासना की उत्तम विधि क्रिया योग से सदियों से वंचित रहे, उनके जीवन में एक नया सूर्योदय हुआ। उनके लिए भी मोक्ष का पथ प्रशस्त हुआ। श्री लाहिड़ी महाशय के पहले शायद

ही कोई विरले महात्मा रहे होंगे, जो ब्रह्मचारियों तथा सन्यासियों के अलावा, किसी गृहस्थ के सम्मुख ब्रह्म विद्या के गुप्त रहस्य को प्रकट किये होंगे। यह आत्मोपासन यथार्थ धर्म है। आइए अब धर्म पर कुछ विचार किया जाय।

धर्म—हमारे शास्त्रों के अनुसार मनुष्य इस सृष्टि का आदि जीव है। मनुष्य सर्वश्रेष्ठ भी है। अब विचार करना चाहिए कि अन्य जीवों से मनुष्य में क्या विशेषता है ? इस सन्दर्भ में एक श्लोक यहाँ दिया जा रहा है—

आहार निद्रा भय मैथुनं च, समानवेता पशुभिः नराणां।
धर्मोहि एको अधिकोविशेषो, धर्म विहीन नर पशु समान॥

अर्थात्—आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन सभी जीवों में समान रूप से रहता है। धर्म ही एक मात्र मनुष्य की विशेषता है। यदि मनुष्य इस धर्म का पालन नहीं किया तो वह भी एक पशु ही कहा जायेगा।

यह धर्म वास्तव में क्या है ? श्री लाहिड़ी महाशय कहते हैं कि दया ही धर्म है। सबसे पहले हमें अपने ऊपर ही दया करनी चाहिए। हम अपने ऊपर कैसे दया करें ? हमारी श्वांस २४ घंटे में २१६०० बार चलती है। इस श्वांस को यदि प्राणायाम के द्वारा कम किया जाय अर्थात् "लम्बी श्वांस लेने से श्वांस की संख्या कुछ कम होगी तो प्राण की चंचलता भी कम होगी" जैसाकि लिखा है—

"चले वाते चले चित्तो निश्चले निश्चलो भवेत्।"

अर्थात् वायु के चलने से प्राण चंचल होता है और निश्चल होने से प्राण भी स्थिर होता है। इसीलिए अपने शास्त्रों में प्राणायाम का इतना अधिक महत्व दिया गया है, "यह प्राणायाम ही प्राण की सेवा है। इससे प्राण स्थिरत्व को प्राप्त होता है"। यह प्राणायाम ही महान् धर्म है। यथा—"प्राणायाम महाधर्मो वेदानांमप्यगोचरो"। यह प्राणायाम ही परम धर्म है क्योंकि प्राण ही सर्वश्रेष्ठ है और उसकी उपासना मोक्षदायी भी है। यदि आप ध्यान दें तो पायेंगे कि हमारे धार्मिक अनुष्ठानों में प्राणायाम की व्यवस्था है। सत्यनारायण की कथा सुनाने के पहले पण्डित जी कहते हैं "५ बार श्वांस लेकर छोड़ दीजिए"। चूँकि वे भी प्राणायाम नहीं करते इसीलिए केवल श्वांस ही लेने को कहते हैं। शास्त्रों में प्राण की उपासना श्रेष्ठ बतलाते हुए लिखा है—

प्राणोहि भगवानीशं, प्राणो विष्णु जनार्दनः ।
प्राणोहि धार्यते लोको, सर्वं प्राणमयं जगत् ।।

कृमि से लेकर देवता तक सब में प्राण है। सभी लोग जब तक प्राण रहता है तभी तक जीवित रहते हैं। प्राण के बिना जीवन संभव नहीं है। "यह प्राण जब चंचल होता है तब मन में कामना-वासना का उदय होता है" एवं उसकी पूर्ति के लिए इन्द्रियों के साहचर्य से मनुष्य अनेक बुरे कार्यों (पाप कार्यों) में फँस जाता है। इस प्रकार वह अपने को सांसारिक जंजाल में इस तरह से फँसा लेता है कि अनेक जन्मों तक नाना योनियों में पड़कर जन्म-मरण, रोग-शोक, दुःख-दारिद्र में कष्ट भोगता है। "यदि इस प्राण को स्थिर कर लिया जाय तो यह हमारे वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करा देता है एवं हमें मोक्ष प्राप्त करा देता है।

धर्म शब्द में तीन अक्षर है—ध, र, म। ध का अर्थ है धारण करना, र का अर्थ है प्राण का तेज, म का अर्थ है बिन्दु (मकार, शिव, आत्मा) अर्थात् प्राण को प्राणायाम द्वारा आज्ञा चक्र में लेजाकर बिन्दु में स्थिर करना। इस अवस्था में प्राण पूर्ण रूप से स्थिर होकर अपने स्वरूप में आ जाता है। सारांश यह हुआ कि "स्वरूप का ज्ञान ही धर्म है। यही भक्ति भी है।" आदि शंकराचार्य ने भक्ति की परिभाषा लिखा है "स्वस्वरूपाऽवस्थानम् भक्तिरित्य भिधीयते।" अपने स्वरूप में स्थित होना भक्ति है। ये सभी उपलब्धियाँ तभी होंगी, जब आप प्राणायाम से परिचित होंगे। स्वरूप का ज्ञान होने के पश्चात् व्यक्ति कोई नीति विरुद्ध कार्य नहीं कर पायेगा। वही सच्चा धार्मिक भी होगा।

आजकल प्रायः सभी धर्म वाह्य आडंबरों से युक्त हो गये हैं। यही कारण है कि लोग धर्म भी करते हैं और अशांत भी रहते हैं। उन्हें धर्म का वास्तविक रूप ज्ञात नहीं है। कुछ लोग शतचण्डी का पाठ कराते हैं तो कोई रामायण का अखण्ड पाठ करवाते हैं। इन सब में केवल बाह्य, आडम्बर ही है। भगवान का नाम तो आपको स्वयं लेना चाहिए, भाड़े के लोगों द्वारा हल्ला कराने से भगवान प्रसन्न नहीं होते। साथ ही साथ यह अधिक कष्ट साध्य भी है। यदि कहीं रामायण का २४ घण्टे का पाठ हो रहा हो तो वहाँ आप जाकर देखें। आप पायेंगे कि गृहस्वामी स्वयं अन्य कार्यों में व्यस्त है और दूसरे लोग पाठ कर रहे हैं। इस पाठ में भगवान के प्रति भक्ति का भाव जरा भी नहीं दिखाई देता। लोग जल्दी-

जल्दी दोहा और चौपाई के शब्दों का मात्र उच्चारण करने तथा स्वर, लय आदि को ठीक रखने में ही व्यस्त रहते हैं। इस पाठ के अंतिम भाग में तो इतना थक जाते हैं कि किसी प्रकार से जल्द से जल्द इससे निजात पाने के लिए व्यग्र हो उठते हैं। ध्वनि विस्तारक के साथ-साथ यदि अन्य सब वाद्य न रहे तो मजा भी नहीं आता। कभी-कभी स्पर्धा या होड़ लग जाती कि कौन सबसे नामी कीर्तन मण्डली से पाठ करवाता है। यदि किसी प्रकार से सब पूर्ण भी हुआ तो आयोजन कर्ता उसे सबके सामने यह कहने में गर्व अनुभव करता है कि काफी पैसा खर्च करके ठाट के साथ रामायण पाठ करवाया। इससे तो अहंभाव की वृद्धि ही हुई। ऐसे ही सभी पूजा पाठ आडम्बरों से भर गये हैं जिससे भगवत् प्रेम बढ़ने की जगह अहंभाव वृद्धि को प्राप्त होता है। मैं इसका विरोधी नहीं हूँ परन्तु मेरा यह मत है कि रामायण या अन्य जो भी पाठ आप करें, उसे स्वयं करें और थोड़ा-थोड़ा करके प्रतिदिन करिए। भक्ति पूर्वक ही करना उचित है। २४ घण्टे का ऊबाऊ और आडम्बर युक्त पाठ न करें, क्योंकि वह धर्म का उपहास करने जैसा लगता है। पाठ तो भक्ति पूर्वक ही होना चाहिए। यदि अहंभाव बढ़ा तब तो पैसा और समय दोनों व्यर्थ हो गये। दूसरों को दिखाने के लिए या पड़ोसी से स्पर्धा करने के लिए उससे बढ़-चढ़कर करने का विचार न रहे। अन्यथा लाभ कुछ भी नहीं होगा।

हमारे शास्त्रों में ऋषियों ने अपनी साधन पद्धति, अपनी अनुभूतियाँ तथा तत्सम्बन्धी यम नियम आहार विचार का सुन्दर ढंग से समन्वय किया है। इन सभी साधनों के मूल में योग है। योग के द्वारा ही यथार्थ धर्म सम्भव है, क्योंकि आप जिस धार्मिक पुस्तक को पढ़ते हैं, उनका अर्थ आप यदि न समझ सकें या उन अनुभूतियों को स्वयं न पावें तो आपकी श्रद्धा संदेह से युक्त रहेगी। आपका विश्वास भी क्षणिक होगा। योग के द्वारा आप शास्त्रों को समझ पायेंगे। परन्तु आज-कल योग के विषय में लोगों के अन्दर अनेक भ्रांतियाँ हैं। लोग इससे भय पाते हैं। कुछ लोग योग व्यायाम के कुछ आसनों को ही योग मान लेते है या कुछ लोग साधु तथा संयासी होकर गृह त्याग के बाद ही योग किया जा सकता है, ऐसे विचार धारा के हैं। वे सोचते हैं कि गृहस्थी में रहकर यह योग करना अत्यन्त कठिन है तथा उचित भी नहीं है। यह उनकी भूल धारणा है। योग तो मन और प्राण को स्थिर करने की एक पद्धति है। हम गृहस्थी के सभी कर्मों को करते हुए इसे आसानी से कर सकते हैं।

मूर्तियों की पूजा प्राचीन काल में नहीं थी। हमारे धर्म में जितनी मूर्तियाँ हैं, वे सब रूपक हैं या जो ध्यान में देखी जाती है उन्हीं का स्थूल रूप है। जैसे शिवलिंग की पूजा होती है। ठीक उसी प्रकार का शिवलिंग जैसा आप मन्दिरों में देखते हैं, आपके अपने ही शरीर में मूलाधार में स्थित है। यदि आप योग द्वारा मन को स्थिर करके मूलाधार में संयम करें तो उज्ज्वल वर्ण के शिवलिंग का दर्शन होगा। बाहर मन्दिरों में उसी का प्रतिरूप बनाया गया है। इस पत्थर के प्रतिमा का पूजन करने से अच्छा है, अपने भीतर प्राणवन्त शिव की पूजा करें। ये मूर्तियाँ केवल धर्म की ओर आकर्षित करने के लिये ही बनी हैं। इसी प्रकार माँ काली की प्रतिमा में निकली हुई जीभ खेचरी मुद्रा की प्रतीक है। मुण्डमाल दशमहाविद्या अर्थात् दशों इन्द्रियों का प्रतीक है इत्यादि। ये रूप तो गुरु लोग शिष्यों को योग की नाना प्रकार की अनुभूतियों तथा रहस्यों को समझाने की सुविधा से नक्शे की तरह बनाये थे। कालांतर में वास्तविक साधन पद्धति को भूलकर उसे मूर्ति का रूप देकर लोग पूजने लगे।

इस संसार में मात्र एक ही देवता है—आत्मा और एक ही शक्ति है कुलकुण्डलिनी शक्ति। इनकी वास्तविक उपासना योग द्वारा ही संभव है। अन्य देवी-देवता इन्हीं के नाना कार्यों के करने से नाना रूप और नाम के प्रतीक है। हमारे यहाँ पूरी सामाजिक व्यवस्था भी इसी आत्मोपासना पर आधारित थी। ब्रह्मज्ञानी को ब्राह्मण, साधना में अपने विकारों से युद्ध करने वाले को क्षत्रिय, किसी सांसारिक कामना की पूर्ति के उद्देश्य से उपासना करने वाले को वैश्य एवं उपासना न करने वाले को शूद्र कहा जाता था। जाति-पाति की व्यवस्था हमारे यहाँ बहुत वैज्ञानिक कर्मणा जाति प्रथा थी। कालांतर में जन्मना जाति से नाना प्रकार की परीशानियाँ एवं संघर्ष शुरू हुए। आज उनका विकृत रूप हमारे सामने है। हमारे शास्त्रों के अनुसार प्रथम ऋषियों की सृष्टि हुई। एवं उन्हीं से जो संताने हुई वे बाद में जातियों में अपनी सुविधापूर्ण जीवन विताने के लिए बँट गई। परन्तु उनमें ऊँच-नीच का भेद-भाव न रहा। आगे चलकर जब धर्म विकृत हुआ अर्थात् वाह्य आडम्बर युक्त धर्म हुआ और आत्मोपासना समाज से लुप्त हो गई, तब समाज में सारे विकार आ गये। श्री लाहिड़ी महाशय ने जाति-पाँति के बन्धनों को तोड़कर, यह गुप्त क्रिया योग भंगी से लेकर ब्राह्मण तक सबको दिया। यह समस्त मानव जाति का धर्म है। क्योंकि इसमें प्राण की उपासना है जो सबके अन्दर

सर्वदा रहता है। इसमें छोटे-बड़े, गरीब-अमीर का कोई भेद-भाव नहीं है। तो आइये अब क्रिया योग पर बिचार किया जाय।

श्री लाहिड़ी महाशय की क्रिया योग में यम और नियम जो पहले के समय में आवश्यक था, वह छोड़ दिया गया। उन्होंने कहा—कि यम-नियम सही रूप में पालन करने के पश्चात् यदि दीक्षा दिया जाय तो समय कम मिलेगा और लोग यम-नियम का सही रूप में पालन भी नहीं कर पायेंगे। अतएव यम-नियम पर वे जोर नहीं दिये। उनका मानना था कि जब क्रिया से मन स्थिरता की ओर जैसे-जैसे अग्रसर होगा, ये यम और नियम अपने आप पूर्ण हो जायेंगे। उनकी क्रिया पद्धति निम्न प्रकार से है।

(प्रथम क्रिया)

१. गुरु प्रणाम—प्राणायाम के द्वारा कुम्भक करके बैठे-बैठे साष्टांग ~~प्रमाण~~ प्रणाम करते हुए इस मन्त्र को मन ही मन कहना और मन्त्रोचारण समाप्त होने पर पुनः पूर्वावस्था में आकर रेचक करना।

मन्त्र— अखंड मंडलाकारं, व्याप्तं येन चराचरम्।
तत् पदं दर्शितं येन, तस्मै श्री गुरवे नमः॥

किसी आसन पर—(पद्मासन, सिद्धासन या स्वस्तिकासन जो सुविधाजनक हो) बैठकर गुरु को प्रणाम करना होता है। बैठने के समय यह ख्याल रहे कि मेरुदण्ड सीधा हो। गीता में लिखा है—"समकायो सिरोग्रीवा" अर्थात् मस्तक (गर्दन) और पीठ एक सीध में हों। झुककर न बैठें। गुरु को प्रणाम करने के बाद कार्य आरंभ होता है एवं सभी क्रियाओं को करने के पश्चात् पुनः आसन से उठने के पहले गुरुप्रणाम किया जाता है।

२. खेचरी मुद्रा— हमारी इन्द्रियों में रसनेन्द्रिय बहुत चंचल होती है। अतः इसे संयमित करना सर्व प्रथम आवश्यक है। इसमें जिह्वा की जड़ता को समाप्त करने के लिए कुछ उपाय लाहिड़ी महाशय बताते थे। उन उपायों से जिह्वा के नीचे जो पतली-सी नस जो उसे नीचे के जबड़े से जोड़ती है, उसे समाप्त कर दिया जाता है। उपनिषदों में छेदन आदि कष्ट कारक पद्धतियां दी गयी हैं परन्तु श्री लाहिड़ी महाशय जी ने इसकी सरल पद्धति बतलाया है। जब जिह्वा की जड़ता समाप्त हो जाती है। तब वह तालू के ऊपर, भीतर ही भीतर

चली जाती है। इस क्रिया की कोई संख्या निश्चित नहीं है। फिर भी कम से कम १०० बार जरूर चाहिए, अधिक जितना चाहें कर सकते हैं। जब जीभ भीतर प्रवेश कर जाती है तब यह क्रिया करना छोड़ दिया जाता है। इस क्रिया को करने से क्या लाभ है?

(क) जीभ तालू मूल में प्रवेश कर जाने पर प्रथमतः वाक् संयम होता है। जीभ को भीतर रख लेने पर आप बोल नहीं पायेंगे। अतः बेकार के वार्ता से बच जायेंगे। अधिक बोलने से शक्ति का क्षय होता है और मन भी चंचल होता है।

(ख) कामना—वासना का ह्रास होता है। जीभ को कामना-वासना का प्रधान द्वार माना जाता है। माँ काली की लम्बी जीभ हमें यही बताने के लिए दिखाई गई है। माँ काली रक्त वीर्य असुर का बध अपनी लम्बी जिह्वा पर किया था। यह एक रूपक मात्र है। वास्तव में उससे यही दर्शाया गया है कि अपनी रसना को लम्बी करके उसको तालू कूहर में स्थापित करने पर कामना-वासना रूपी रक्त-बीर्य असुर का नाश होगा। सोचने की बात है कि जगज्जननी के लिए सभी देवता, असुर एवं मानव आदि पुत्रवत हैं। इसलिए माता पुत्र का बध कैसे करेगी? जब साधारण माताएँ ही पुत्र-बध नहीं कर सकती तो यह तो सारे संसार की माता हैं। अतः यही निर्देश ऋषियों ने दिया है कि खेचरी सिद्ध करो और कामना-वासना को जय करो।

(ग) सोम-रस का पान—जब जिह्वा तालू में प्रवेश करती है, तब सहस्रार से विगलित सोम रस, जिसे अमृत या गुरुचरणोदक भी कहा जाता है, उसका स्वाद मिलता है। अधिकांशतः यह स्वाद मधु जैसा मधुर होता है, कभी-कभी घृत जैसा स्वाद भी आता है। यह रस पान करने पर एक विचित्र नशा जैसा होता है। इससे मन मस्त होकर स्थिर हो जाता है। शराब के नशे से बुद्धि विकृत हो जाती है परन्तु इस नशे में बुद्धि और मन स्थिर रहते हुए जाग्रत भी रहते हैं।

खेचरी मुद्रा का महत्व अनेक साधकों ने बहुत अधिक कहा है। महायोगी गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं—"न खेचरी सम मुद्रा' अर्थात् योग की समस्त मुद्राओं में खेचरी श्रेष्ठ है। इस खेचरी की अनेक व्याख्याएँ हैं। जैसे तंत्र का मांस भक्षण है। चूंकि जीभ पूरी मांस की बनी होती है, इस लिए उसको भीतर प्रवेश कराने को मांस भक्षण से तुलना की गई है।

महात्मा कबीर भी अपने एक शिष्य को खेचरी समझाते हुए कहते हैं कि "जाओ भिक्षा मांग कर लाओ, आज मेरा उपवास है। उसी भिक्षा से उपवास समाप्त करूँगा।" कबीर कहते हैं—

"पहली भिक्षा मांस की लाना, जीव जन्तु के पास न जाना।"
'जिन्दा मुर्दा छोड़ के लाना, लाना हाँड़ी भर के।।"

अब भला बताईए कि जीव-जन्तु के पास बिना गये मांस कहां मिलेगा? जिन्दा या मुर्दा दोनों मना करते हैं और हाँड़ी भरकर लाने को भी कहते हैं। शिष्य की समझ में गुरु की खेचरी करके जीभ का मांस स्वयं भक्षण का संकेत समझ में नहीं आया। वह जब घूमघामकर खाली हाथ आया तब उन्होंने समझाया कि खेचरी ही मांस भक्षण है।

"मा शब्दे रसना ज्ञेया, तद् अंशम् रसना प्रिये।
स यो भक्षयेत देवी समवेत् मांस साधकः।।"

— शिव संहिता

मा, माने रसना तथा उसका अंश (मा + अंश = मांश) भी रसना ही हुआ उसको भक्षण करना मांस भक्षण है। इस योग प्रक्रिया (खेचरी) को न जानकर तांत्रिक लोग बाहर से किसी जानवर का मांस लाकर खाते हैं। तंत्र के पंचमकार में मांस, मदिरा, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन आते हैं। इसमें मांस भक्षण और मदिरापान ये दोनों खेचरी से ही पूर्ण हो जाते हैं। जीभ का भक्षण मांस भक्षण हुआ और सोमरस का पान मदिरा पान है। यही शुद्ध तन्त्र है परन्तु आजकल के तांत्रिक इनसे प्रायः अनभिज्ञ हैं। मत्स्य और मैथुन प्राणायाम द्वारा होता है, इसे प्राणायाम वर्णन के समय लिखा जायेगा। मुद्राएँ तो योग में बहुत हैं, उनमें से जिस किसी को ले सकते हैं। इन्हीं रूपकों को अज्ञानता वश न समझ पाने से पाश्चात् इतिहासकार आर्यों को मदिरा और मांस खाने वाले लिख मारे हैं। शांडिल्योपनिषत् में महर्षि अथर्वा शांडिल्य ऋषि को कहते हैं—"हे शाण्डिल्य तू खेचरी मुद्रा को भज।" श्री लाहिड़ी महाशय ने अपने क्रिया योग में खेचरी को प्रथम स्थान दिये हैं। बालक मातृगर्भ में इसी योग की मुद्रा में रहता है। जब बालक पैदा होता है तब धाय / नर्स उसके मुँह में अंगुली डालकर उसकी जिह्वा को खींचकर बाहर करती है। अर्थात् वह ईश्वर दत्त योग प्रक्रिया है जो गर्भ में उसकी रक्षा करती है। जन्म के बाद भी प्रायः ६ माह तक बच्चों की जीभ तालू से सटी रहती है।

आगे चलकर सांसारिकता में लीन होने के साथ ही साथ इसकी जड़ता भी बढ़ने लगती है। इस मुद्रा के बाद नाभि क्रिया का विधान है।

२ नाभि मुद्रा—हमारे शरीर में मेरुदण्ड या पीठ में रीढ़ की हड्डी (Vertebral) प्रधान हड्डी है। मस्तक उसके ऊपर रखा हुआ है तथा हाथ और पैर भी अपने स्थान पर जोड़ दिये गये हैं। इसी रीढ़ की हड्डी में हमारे शरीर के छः शक्ति केन्द्र अर्थात् छः चक्र अवस्थित हैं। इनमें एक चक्र नाभि के ठीक पीछे रीढ़ में है। इस चक्र को मणिपुर चक्र के नाम से जाना जाता हैं। यह नीली दस पंखुड़ियाँ वाला चक्र कमल, शरीरस्थ तेज का स्थान है। इसका मध्य भाग उगते हुए सूर्य के समान लाल रंग का है एवं उसमें एक त्रिकोण है। यज्ञ कर्त्ता इसी त्रिकोण की तरह का यज्ञ कुण्ड बनाते परन्तु इसे नहीं जानते, यहीं पर समान वायु भी रहती है। यह वैश्वानर या अग्नि का स्थान भी कहा गया है। प्रारंभिक साधकों को यह (अन्य चक्रों के समान ही) हल्के सफेद धब्बे जैसा दिखता है। साधारणतया यह नीले, लाल एवं कभी पीतवर्ण तथा सफेद रंग का भी दिखता है। मन की वृत्तियों के अनुसार इसका भिन्न-भिन्न रंग दिखलाई देता है। यह चक्र नाभि के ठीक पीछे होने के कारण इस पर की जाने की क्रिया को नाभि क्रिया कहा जाता है। वैसे नाभि से इसका कुछ लेना देना नहीं है। गीता में भगवान कहते हैं

"अहं वैश्वानरोभूत्वा प्राणिनां देह माश्रित.।
प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

अर्थात् भगवान वैश्वानर रूप से चारो प्रकार के खाए हुए भोजन को नाभि में स्थित होकर पचाते हैं। यह शरीर का संतुलन भी रखता है। इस क्रिया से जब तेज जाग्रत होता है तो पेट की तमाम गड़बड़ियों को ठीक करता है। मुझे इसका रूप श्वेत रंग की अग्नि शिखाओं से आवृत्त कमलवत दिखाई दिया। वैसे अन्य रूप भी दिखा परन्तु श्वेत अग्नि शिखाओं से आवृत रूप बड़ा था। सुनहरे रंग का खिला हुआ कमल जैसा भी दिखा। इसमें एक देवी मूर्ति जिसका रंग दूध और आल्ता (लाल रंग) मिलाने से जैसा रंग होता है, उसी रंग का शरीर बड़ा ही सुन्दर रूप था। एवं हल्के गुलाबी परिधान में दिखलाई दी। अपने गुरुदेव को जब यह अनुभव सुनाया तो उनके द्वारा मालूम कि यह लक्ष्मी देवी का रूप है। जो भी हो यह अनुभव क्रिया में लाभदायक ही रहा। शरीर के इस मणि-

पूरक चक्र के आस-पास एक कड़ा मांस-पिण्ड है जो शव को जलाने पर भी नहीं जलता, क्योंकि अग्नि, अग्नि को नहीं जला सकती। इसी स्थान पर नाभि भीतर से खींचकर बँधी रहती है। लोग इसी को फुल्ला भी कहते हैं और शव दाह के उपरांत इसी को काशी आदि तीर्थों में ले जाकर गंगा में विसर्जन करतें हैं।

इस पर जप की संख्या प्राणायाम की संख्या से संबद्ध है। प्रारम्भ में सामने से १०० और उसी स्थान पर पीछे से २५ जप होते हैं। जैसे-जैसे प्राणायाम की संख्या बढ़ती है, यह भी प्रति १२ प्राणायाम पर १००+२५ के अनुपात में बढ़ती रहती है। अन्त में १४४ प्राणायाम पर इसकी संख्या १२००+३०० हो जाती है। प्रायः यही इसकी अधिकतम संख्या मानी जाती है। इस मणिपुर चक्र की क्रिया करके प्राण के तेज को जाग्रत करने के उपरांत श्री लाहिड़ी महाशय ने प्राणायाम करने का विधान किया है। यह बहुत ही वैज्ञानिक लगता है। अग्नि प्रज्वलित करने के उपरांत जैसे उसे और अधिक उद्दीप्त करने के लिए हवा दिया जाता है, वैसे नाभि क्रिया द्वारा प्राण के तेज को जागृत करने के पश्चात्, प्राणायाम द्वारा उसे और उद्दीप्त किया जाता है। कुछ क्रियावान जब प्राणायाम की संख्या बढ़ाते हैं तो नाभि क्रिया की संख्या कुछ कम कर देते हैं। मेरे विचार से यह लाभदायक नहीं है। इसको पूरा करना चाहिए। इसी क्रिया से मन स्थिर होता है। इस क्रिया की परिपक्वता होने पर श्वांस चलना रूक जाता है और मन पूर्णरूप से स्थिर हो जाता है। यह रुद्र का भी स्थान कहा गया है। रक्त वर्ण के रुद्र का भी दर्शन यहीं होता है। जब कभी उत्तम प्राणायाम होता है तो मन मणिपुर चक्र से भी सुषुम्णा में घुस जाता है। अतः यह भी साबित हुआ कि सुषुम्णा में यहाँ से ही प्रवेश किया जा सकता है। इस पर ठीक से ध्यान युक्त क्रिया करने पर तिल्ली, ऑत, पैंक्रियाज आदि अंगों की शक्ति बढ़ती है। क्षुधा भी बढ़ती है इसके बाद प्राणायाम आता है।

प्राणायाम—"प्राणायाम महाधर्मो वेदानामप्यगोचरो।"

अर्थात् प्राणायाम ही महान् धर्म है, इसकी महिमा वेद भी पूर्णरूप से व्यक्त नहीं कर पाये हैं। तो प्राणायाम क्या है ?

मानव शरीर में मेरुदण्ड की प्रधान अस्थि है। इसके भीतर एक सुराख है। इसी सुराख में ब्रह्म रन्ध्र से आने वाली सुषुम्णा नाड़ी आज्ञा-चक्र से आकर प्रवेश करती है। यह नाड़ी पूरी मेरुदण्ड को पार करती

हुई मूलाधार चक्र में स्थित शिवलिंग से थोड़ा ऊपर ही रुक जाती है। इसका नीचे का सिरा, सर्पाकार कुल कुण्डलिनी, जो सार्धत्रिवलयाकार रूप में शिव को वेष्ठन की हुई है, उसके फण से बन्द रहता है। इस नाड़ी में ६ चक्र हैं। इस नाड़ी के दोनों पार्श्वों में दो चंचल नाड़ियाँ हैं। इसमें एक का नाम ईड़ा तथा दूसरे का नाम पिंगला है। ईड़ा तमोगुण का प्रतिनिधित्व करती है और पिंगला रजोगुण का। ये दोनों चंचला नाड़ियाँ मूलाधार से उठाकर सुषुम्णा के दोनों पार्श्वों से होती हुई उसमें स्थित चक्रों को घेरते हुए चक्रों के नीचे और ऊपर एक दूसरे को काटती हुई आज्ञाचक्र तक जाती हैं। इड़ा को चन्द्र नाड़ी पिंगला को सूर्य नाड़ी कहते हैं। इनके मध्य में सुषुम्णा, उज्वल ज्योति से जगमगाती हुई, सतोगुणी नाड़ी है।

मन प्रायः (ईड़ा और पिंगला) चंचल नाड़ियों से रमण करता है तथा उनके गुणों से प्रभावित होकर तामसिक और राजसिक कार्यों को करता है। तदनुसार पापादि में लिप्त होकर नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण करता है। जन्म-मरण के बन्धन में पड़कर अज्ञानता वश अनेकों कष्ट झेलता है। प्राणायाम में मन को इन दोनों चंचल नाड़ियों से हटाकर सुषुम्णा में प्रवेश कराने का प्रयत्न किया जाता है। सुषुम्णा में जब मन प्रवेश करता है तो उसकी सारी चंचलता समाप्त हो जाती है। तब मन स्थिरता को प्राप्त कर आनन्द मग्न होकर अपने स्वरूप प्राण के साथ युक्त होकर आत्मा में मिलकर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। सुषुम्णा (सरस्वती) में स्नान करके मन पवित्र और निष्पाप हो जाता है। ईड़ा और पिंगला में जो चंचल वायु है उसको स्थिर करना ही तन्त्र में मत्स्य भक्षण कहा जाता है। जैसे मत्स्य एक स्थान पर स्थिर नहीं रहती, उसी प्रकार ईड़ा-पिंगला के अन्दर की चंचल वायु भी सर्वदा चलायमान रहती है। इनको प्राणायाम द्वारा जय करना ही मत्स्य भक्षण कहलाता है अन्यथा नदी या तालाब से मछली पकड़कर खाने से तो केवल जिह्वा की तृप्ति होती है और क्षुधा निवारण मात्र होता है। तन्त्र का दूसरा मकार मैथुन भी प्राणायाम की अवस्था का नाम है। जब मन प्राण के साथ सुषुम्णा में प्रवेश करता है तो मैथुन से मेल खाती एक आनन्दमय अवस्था का अनुभव होता है। उस समय प्रारंभ में ही गुह्य द्वार से थोड़ा ऊपर और नाभि के नीचे की स्थिति में यह अनुभव होता है। इस समय मैथुन की जैसी अनुभूति होती है। शरीर कांप उठता है। प्राण के

सुषुम्णा में उठते समय वह बोध होता है। बारंबार उसमें प्रवेश करने पर यह बोध उस अजीब आनन्द से युक्त होकर आज्ञा चक्र में जाकर स्थिर हो जाने पर उसकी पूर्णता का अनुभव होता है।

प्राण का आयाम (विस्तार) ही प्राणायाम है। प्राण को उसके विभिन्न कार्यों एवं स्थान भेद से ५ नाम दिये गये हैं – प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान। वास्तव में ये सब मिलकर प्राण ही हैं। नाभि से कंठ तक जिसके संचरण से श्वसन क्रिया होती है, उसे प्राण कहा जाता है। नाभि में समान का अवस्थान है, जो प्राण और अपान का संधिस्थल है। यह शरीर का संतुलन रखता है एवं प्राण के तेज (अग्नि) को धारण करता है। नाभि से नीचे मूलाधार चक्र या यों कहिए कि रीढ़ के सबसे निचले भाग तक फैली प्राण वायु के हिस्से को अपान कहते हैं। इसका कार्य नाभि से नीचे की इन्द्रियों को बल देना या सम्हालना है। मल विसर्जन, प्रजनन, प्रसव आदि इसके प्रधान कार्य हैं। यह शरीर के मल को बाहर फेंकता है। कंठ से ऊपर के प्राण के हिस्से को जो गर्दन के ऊपर की इन्द्रियों के कार्यों को नियन्त्रित करता है, उसे "उदान" कहते हैं। सारे शरीर में व्याप्त त्वचा आदि के कार्यों का नियन्त्रण करने वाला व्यान कहलाता है।

वैसे तो साधारण रूप से सब अपने-अपने क्षेत्र में तैनात रहकर अपना-अपना कार्य करते हैं परन्तु प्राणायाम करने के समय सबको अपने-अपने स्थान से लाकर प्राण के साथ युक्त करते हैं। यह जो नाभि से कण्ठ तक विचरण करने वाला प्राण है, उसे योगिक प्रक्रिया द्वारा विस्तारित करके, समस्त प्राणों को एकत्र करके बहिर्मुखी से अन्तर मुखी करने की प्रक्रिया को ही "प्राण का आयाम" कहते हैं। यह प्रक्रिया मृत्युकाल में स्वतः होती है। प्राण जब शरीर से उत्क्रमण करता है, तब पाँचों प्राणों को अपने में मिलाकर एक प्राण करके शरीर का त्याग करता है। उस समय यदि कोई ध्यान दे तो दिखाई पड़ेगा कि श्वांस काफी लम्बी और विचित्र ढंग से अपने अन्तर में एक खिचाव के साथ चलती है। प्राण की चंचल गति को हम श्वांस की गति संख्या से समझ सकते हैं। क्रिया योग द्वारा जीवित काल में ही पांचों प्राणों को मृत्युकाल के सामान ही एकत्र करके चालित किया जाता है। इसी को प्राणायाम कहते हैं।

प्राण जब श्वांस-प्रश्वांस रूपी घोड़े का आश्रय लेता है, तब उसका एक चंचल भाग इन्द्रियों के सानिध्य में आकर वाह्य संसार का भोग

करता है। प्राण के इसी भाव को जिसके द्वारा विषयों को भोग किया जाता है, "मन" कहा जाता है। जब यह मन अन्तर्मुखी होता है, तब शरीर के बाह्य कार्य कम होने लगते हैं। अंततः जब प्राण में मन लीन हो जाता है, तब शरीर का बोध समाप्त हो जाता है। इसके परिणाम स्वरूप अपान और व्यान प्राण से संयुक्त होकर प्राण के साथ ऊपर उठते हैं। यह उर्ध्वगामी गति उदान को साथ में लेकर आज्ञा चक्र में स्थिति को प्राप्त हो जाती है। यही अवस्था योग की वास्तविक अवस्था है। मन के वहिर्मुखी होने पर शरीर की शक्ति का क्षय होता है। इसी क्षय को पूर्ण करने के लिए अधिक आक्सीजन की आवश्यकता होती है। अतः श्वांस अधिक चलती है। इस श्वांस के चलने पर प्राण का चलाचल भी होता है। चूँकि श्वांस के साथ प्राण का सम्बन्ध है इसीलिए प्राण की चंचलता में वृद्धि होती है; यथा—

'चले वाते चले चित्तं, निश्चले निश्चलो भवेत्।"

यदि मन अन्तर्मुखी हो जाय और इन्द्रियों का साहचर्य छोड़ दे तो वह स्वाभाविक रूप से स्थिर हो जायेगा।

इसीलिए श्री लाहिड़ी महाशय ने प्राणायाम में श्वांस को ऐसे कौशल से लेने का विधान किया है जिससे मेरू प्रांत में एक शून्यता (Vacuum) की सृष्टि होती है तथा इसी शून्यता को पूर्ण करने के लिए पञ्च प्राणों पर एक (प्राणोन्मुखी) खिचाव पड़ता है। इस खिचाव में सबसे पहले मन खिच जाता है। उसके बाद व्यान का और फिर अपान का खिचाव होता है। सबसे पहले इस मन को सुषुम्णा पर स्थित चक्रों पर ले जाकर उसे वहीं व्यस्त कर देते है ताकि वह (मन) पुनः विषय चिंतन न कर सके। प्राणायाम के पूर्व नाभि क्रिया में मन आज्ञा चक्र में रहता है। सर्व प्रथम उसको मूलाधार में प्राणायाम शुरू करने के लिए लाते हैं। पुनः शरीर की वाह्य चेतना अर्थात् व्यान को भी मूलाधार की ओर लाते हैं। उसके उपरांत श्वांस के सहारे उनको प्राण के साथ प्राण के क्षेत्र से होते हुए सुषुम्णा पथ से आज्ञाचक्र में ले जाते हैं। वहाँ से रेचक के साथ नीचे मूलाधार में ले जाते हैं। इसी क्रम से प्राणायाम होता है। प्राण का विस्तार करके अपान, व्यान, उदान, समान एवं मन को प्राण के साथ जोड़ देने की प्रक्रिया ही प्राणायाम है। गीता में एक श्लोक है—

"अपाने जुह्वती प्राणं, प्राणेऽपाणं तथापरे।
प्राणापान गति रुद्ध्वा, प्राणायाम परायाणा॥" —गीता

यही प्राणायाम यज्ञ भी है—

"प्राणाग्नौ भूयते प्राणो यज्ञ कर्मा तदुच्यते।"

इस प्राणायाम रूप यज्ञ से मन की चंचलता समाप्त हो जाती है। मनुष्य निष्पाप होकर पवित्र हो जाता है।

शास्त्रों के अनुसार मनुष्य की आयु गणना श्वांस की संख्या से होती है। २४ घंटे में एक आम आदमी २१६०० बार श्वांस-प्रश्वांस लेता है। प्राणायाम करने से श्वांस लम्बी हो जाने के कारण श्वांस की संख्या कम हो जाती है। अतः आयु की वृद्धि होती है। प्राणायाम हमारे ऋषियों का आश्चर्य जनक, अनुपमेय आविष्कार है। आज का विज्ञान भी इसे सम्मान देता है। हृदय और रक्त चाप के मरीजों को लम्बी श्वांस लेने का चिकित्सक भी राय देते हैं। इस प्राणायाम से आक्सीजन भरपूर मिलने से शरीर स्वस्थ रहता है। प्राणायाम के द्वारा जब प्राण का चंचल भाव समाप्त हो जाता है, तब प्राण उर्ध्वगामी होकर ब्रह्मलोक तक साधक को ले जाकर मोक्ष प्रदान करता है।

महायोगी गुरुगोरक्षनाथ जी ने कहा है—कि ब्रह्मादि देव गण इसी प्राणायाम के अभ्यास द्वारा काल का जय करके अमर पद पाये हैं। प्राणामाम का महत्व उनको इन पंक्तियों में इस प्रकार है—

"ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः।
अभूवन्नन्तकभयात्त स्मात् पवनमभ्यसेत्।"

भगवान शिव पार्वती जी से कहते हैं—

"शिवादि कृमि पर्यंतम् प्राणिनां प्राणवर्धनम्।
निःश्वांस श्वांसरूपेण मन्त्रोऽयं वर्तते प्रिये॥"

अतएव इस श्वास को प्राणायाम द्वारा संयम में रखना ही परम् धर्म है। यदि श्वांस संयमित नहीं हुई, तब मन को नियंत्रण में नहीं रखा जा सकेगा। यदि मन विषयों से हट कर स्थिर न हुआ तब भव बन्धन नहीं कट सकता। फलस्वरूप परमात्मा का दर्शन या मोक्ष तो असंभव ही जानिये। मानव शरीर पाकर भव सागर को पार न कर सके तो आवागमन बना रहेगा। कभी-धनी होंगे तो धन का अभिमान और कभी गरीब हुए तो सारे कष्ट आप को घेरे रहेंगे। इस प्रकार बारम्बार जन्म मरण के चक्र में फँसकर अनेकों जन्म आप कष्ट भोगते रहेंगे।

वायु क्रिया ही प्रारम्भ में प्रधान रहती है। प्राण-अपान अनेक
अभ्यास के पश्चात् ही उर्ध्वगामी होते हैं। यह वायु क्रिया भी यथेष्ठ
आनन्द प्रदान करती है एवं अन्य सारे लाभ भी इससे होते हैं। प्रथमतः
चक्रों का दर्शन होता है; फिर सुषुम्णा का तेजोमय रूप दिखाई देता है।
उसका अभ्यास हो जाने पर तब तीसरी अवस्था में अपान, मन को लेकर
प्राण के साथ ऊपर उठता है। यह बड़ी विचित्र अवस्था है। ४ या ५
इस प्रकार के प्राणायाम के बाद अपने आप ही श्वांस बन्द हो जाती है।
(यह सर्वदा नहीं होता। कभी-कभी जब मन शुद्ध रहता है तभी ये
अनुभव होते हैं) फिर तो कूटस्थ भेदकर वृहत् कूटस्थ में प्रवेश कर जाता
है। यदि कोई साधक १२ वर्षों तक या अधिक समय तक क्रिया करे
और उसे कुछ अनुभूति न हो; तब भी यदि एक बार भी इस प्रकार के
प्राणायाम का अनुभव जीवन में प्राप्त हो जाय तो वह अपना जीवन धन्य
मान लेता है और सोचता है कि इतने दिन तक जो भी परिश्रम किया
वह इस आनन्द की तुलना में कुछ भी नहीं है। प्राणायाम की महिमा
का वर्णन करना संभव नहीं है। यही परम् धर्म और मनुष्य का सर्वोत्तम
कर्म है। प्राणायाम १२ की संख्या से प्रारम्भ होकर १४४ तक सामान्य
रूप से चलता है। उच्च क्रियावानों को प्राणायाम अधिक करना चाहिए।
प्रतिदिन ४०० से ६०० बार प्राणायाम करने पर उसे क्रिया के उच्च स्तर
में पहुँचने में सहूलियत होती है। चतुर्थ क्रिया या इससे ऊपर के क्रियावानों
को समय-समय पर १२ घण्टे लगातार बैठकर (छुट्टी आदि के दिन)
१७२८ प्राणायाम करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए उन्हें पहले
६०० प्राणायाम का प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए। तभी १७२८
प्राणायाम करने की उनकी योग्यता होगी। महीने में एक बार करना भी
पर्याप्त है।

श्री लाहिड़ी महाशय द्वारा उपदेशित यह प्राणायाम अत्यन्त सहज
एवं प्रभावशाली है। इसके करने में यदि कोई त्रूटी भी हो तो किसी प्रकार
के हानि की कोई संभावना नहीं है। अतः क्रियावान इसे जितना चाहें कर
सकते हैं। इससे सिवाय लाभ होने के अन्य कोई हानि नहीं होती।

योनिमुद्रा—प्राणायाम की क्रिया समाप्त होने के उपरांत २४ घंटे
में १ बार योनि मुद्रा करने का विधान है। अर्थात् गृहस्थ क्रियावान दोनों
समय (सुबह, शाम) क्रिया की अन्य सभी पद्धतियाँ करेंगे और एक बार
चाहे प्रातः या संध्या समय जब उनको ठीक लगे या जब भी वे समय

अधिक पा सकें, प्राणायाम और महामुद्रा के बीच में एक बार योनि मुद्रा
कर सकते हैं। वैसे उन्नत साधकों को यह क्रिया करने की आवश्यकता
कम होती है; क्योंकि उनको कूटस्थ का दर्शन या चक्रों का दर्शन प्रायः
स्वतः हुआ करता है। प्राणायाम यदि कर्म है तो योनि मुद्रा ज्ञान है।
गीता में योनि मुद्रा से सम्बन्धित एक श्लोक है वह यहाँ दिया जा रहा है—

"सर्व द्वाराणि संयम्य मनो हृदिनिरुद्ध च।
मूर्धानिधायात्मन प्राणंस्थितो योग धारणाम् ॥

शरीर के समस्त इन्द्रिय द्वारों को बन्द करके मन प्राण) को
मूर्धा में प्राणायाम द्वारा स्थिर करना योग की स्थिति है। गुरु की कृपा
से जब तृतीय नेत्र का उन्मिलन होता है, तब योनि मुद्रा के द्वारा पार-
लौकिक ज्ञान की प्राप्ति होती है। गुरु के निर्देशानुसार इसको १ या २
मिनट से अधिक करना श्रेयस्कर नहीं है।

प्राचीन काल में उपनयन संस्कार के समय ब्रह्मचारी का तृतीय नेत्र
गुरु खोल देते थे और तब उनको उपनयन के सूत्र पहनाते थे। उपनयन के
माने ही तृतीय नेत्र है। उपनयन सूत्र (जनेऊ) तो मात्र एक बाह्य
चिह्न है, जिसको गले में इसलिए पहनाया जाता था ताकि लोग यह समझ
जाँय कि यह विप्र है। इसके ज्ञान नेत्र खुल गये हैं। आजकल तो उप-
नयन संस्कार में कुछ बाह्य औपचारिकताओं के साथ गायत्री मंत्र देकर
समाप्त कर दिया जाता है। इसका कारण यह है कि आज के आचार्यों
का तो प्रकृत उपनयन अपना ही नहीं हुआ रहता है। अतः ब्रह्मचारी का
नेत्र खोलना उनके द्वारा कैसे सम्भव है?

प्राणायाम जितना अच्छा होगा, योनिमुद्रा उतनी ही अधिक आनन्द
प्रदान करेगी।

प्राणायाम अच्छा होता है या नहीं उसका प्रमाण योनि मुद्रा में
दर्शन क्रिया से स्पष्ट होता है। इड़ा-पिंगला से प्रत्यहृत् होकर प्राण जब
सुषुम्णा में प्रवेश करता है तो करोड़ों सूर्य का प्रकाश योनि मुद्रा में अनुभव
होता है। यदि मन उसमें प्रवेश नहीं किया तो हल्की-सी ज्योति एक पीत
या श्वेत ज्योति अल्प-काल तक दिखलाई पड़ती है। यह क्रिया अत्यन्त
गोपनीय है। परन्तु श्री लाहिड़ी महाशय अपने सभी शिष्यों को देते थे
तथा इसमें वे जाति-पाँति का भेद नहीं करते थे। उनके विचारों में मनुष्य
अपने विचारों की शुद्धता और अशुद्धता से ही छोटा या बड़ा होता है

अन्यथा सभी समान हैं। उनका कहना था कि मन ही ब्राह्मण या चाण्डाल होता है, मनुष्य नहीं होता।

महामुद्रा—पश्चिमोत्तासन से कुछ मिलती जुलती महा मुद्रा, क्रिया योग में सबके अंत में की जाती है। इसमें बाएँ पैर पर बैठकर प्राणायाम करते हैं और फिर दाहिने पैर को सामने फैलाकर दोनों हाथों से दाहिने पैर के पंजे को पकड़कर, दाहिने घुटने पर मस्तक रखकर कुम्भक अवस्था में १२ बार जप करने के पश्चात् पुनः सीधा बैठकर तब रेचक करना होता है। फिर दाहिने पैर बैठकर बाएँ पैर को मोड़कर प्राणायाम से कुम्भक करके बाएँ पैर को फैलाकर घुटने पर मस्तक रखकर १२ बार जप पूरा करने के पश्चात् पुनः पूर्वावस्था में आकर रेचक करके; फिर पल्थी मारकर बैठें और दोनों पैरों से वैसा ही करें।

आसन पर आधा घंटा (प्रारंभिक अवस्था में ३०-३५ मिनट लगता है) से लेकर २-३ घण्टे बैठने के पश्चात् यह महामुद्रा की क्रिया करने पर रक्त संचार सुचारू रूप से होने लगता है एवं शरीर ताजा हो जाती है। इससे गठिया, वात, बवासीर तथा साइटिका आदि की बीमारी नहीं होती। यदि पहले से इस प्रकार की कोई तकलीफ हो तो उससे राहत मिलती है तथा बीमारी उग्र रूप धारण नहीं कर पाती एवं क्रमशः शमित हो जाती है।

इसका दूसरा कार्य है शरीर की अनावश्यक चर्बी को दूर करना। इसे नियमित करने वाला चुस्त-दुरुस्त रहता है। तीसरा लाभ यह है—कि कुलकुण्डलिनी के जागरण में यह सहायक होती है। इस क्रिया की संख्या प्राणायाम से ही नाभि क्रिया के समान सम्बद्ध है। प्रत्येक १२ प्राणायाम पर १ के हिसाब से १४४ प्राणायाम पर इसकी संख्या १२ तक हो जाती हैं। वैसे यदि कोई अधिक करे तो लाभ ही होगा, हानि नहीं होगी। ऐसा भी प्रमाण है कि कुछ उन्नत साधक इसे १५-२० से ५० तक भी करते रहे हैं। जो भी हो यह एक उत्तम व्यायाम और साधना दोनों है।

महायोगी बाबा गोरक्षनाथ ने इस मुद्रा पर कुछ श्लोक लिखे है जिससे इसके महत्व पर प्रकाश पड़ता है। यथा—(हठयोग प्रदीपिका में)

"महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः।
महामुद्रां चतेनैव वदन्ति विबुधोत्तमा ॥ १४ ॥
क्षयकुष्ट गुदावर्त गुल्माजीर्ण पुरोगमाः।
तस्य दोषा क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत ॥ १७ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धि करो नृणाम।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कश्चित् ॥ १८ ॥

अर्थात् महामुद्रा से सारे क्लेश, क्षय, कुष्ठ, गुदा के रोग, गुल्म, अजीर्ण आदि रोग दूर होते हैं तथा यह सिद्धि देने वाली है। इस क्रिया को सबको नहीं देना चाहिए।

इन सब बातों से एक बात स्पष्ट है कि श्री लाहिड़ी महाशय ने अपनी क्रियायोग पद्धति में समस्त गोपनीय एवं मानव जीवन को उन्नत तथा आनन्दमय बनाने वाली योग क्रियाओं का समावेश किया है। आजका पाश्चात् चिकित्सा शास्त्र भी धीरे-धीरे इन्हें स्वीकार करने लगा है। प्राणायाम का बाह्य रूप लम्बी श्वांस लेना प्रायः सभी हृदय विशेषज्ञ, मरीजों को करने का परामर्श देते हैं। इन सब आश्चर्यमय क्रियाओं को सरलतम रुप में साधारण गहस्थों तक पहुंचाने का प्रयास श्री लाहिड़ी महाशय ने किया है। इससे उनकी मानव के प्रति दया और करुणा का आभास मिलता है।

जिस समय आकाश में बिजली चमकती हो, मेघ गर्जन होता हो उस समय प्राणायाम या उससे संबंधित क्रियाएँ जिसमें प्राणायाम की आवश्यकता पड़े, उसे नहीं करना चाहिए। स्त्रियों को इन सब (विद्युत मेघ गर्जन) के अलावा अपने मासिक स्राव काल में ४ दिन तक कोई क्रिया नहीं करना चाहिए। उस समय केवल कूटस्थ या आज्ञा चक्र या किसी भी चक्र पर जो ठीक और सहज प्रतीत हो, उसपर जप कर सकती हैं। औरतों को इस काल में सफाई से रहने और पूर्ण विश्राम करने का विधान है। जो कुछ लिखा गया है, इसमें आप अनेक स्थलों पर कूटस्थ का जिक्र पाये होंगे। अतः इसको स्पष्ट कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है। यद्यपि दीक्षा के समय क्रियावानों को इसके विषय में बतला दिया जाता है, फिर उस पर कुछ प्रकाश यहाँ भी डाला जा रहा है।

कूटस्थः—भ्रू मध्य के थोड़ा ऊपर एक ज्योतिर्मय मण्डल है। इसी को कूटस्थ कहते हैं। इस ज्योतिर्मण्डल में प्रथम मण्डल श्वेत ज्योति का है; यह इसका बहिर्मण्डल है। दूसरा मण्डल सुनहरे पीतवर्ण का है। तीसरा गाढ़े नीले रंग का है। यह कभी काले रंग का भी दिखलाई देता है। इस काली ज्योति के भीतर एक शुभ्र वर्ण का शुकतारे जैसा विन्दु है। श्री लाहिड़ी महाशय इन ज्योतिर्मण्डलों को वेदों के रूप में मानते हैं। उनके अनुसार श्वेत ज्योति अथर्ववेद, पीली ज्योति ऋग, नीली सामवेद

और विन्दु यजुर्वेद का प्रतीक है। श्रीमद् भगवद्गीता की आध्यात्मिक व्याख्या में उन्होंने कूटस्थ को कृष्ण और मणिपुर चक्र में प्राण के तेज को जीव भाव रूप अर्जुन नाम दिया है। कूटस्थ ब्रह्म स्वरूप है क्योंकि शास्त्रों में जैसा लिखा है कि समस्त सृष्टि भगवान के उदर में स्थित है, उसी प्रकार कूटस्थ के भीतर ही साधक को आत्मा, परमात्मा एवं पारलौकिक, लोक, लोकान्तर सबका दर्शन होता है। इस कूटस्थ के दो रूप देखने को मिलते हैं—एक तो वही है, जिसका वर्णन ऊपर पंक्तियों में हुआ है और दूसरा उसके भीतर है, जिसे वृहत् कूटस्थ कहते हैं। इनमें थोड़ा अन्तर है। प्रथम कूटस्थ में ३ ज्योतिर्मण्डलों के मध्य एक विन्दु भी है और वृहत् स्वच्छ नीला आकाश (आकाशीय रंग से मिलता जुलता) एवं दूसरा ज्योतिर्मय बाह्य भाग। मेरे अनुभव में स्वच्छ आकाश के चारों ओर बड़ी-बड़ी अग्नि की ज्वालाएँ दिखाई पड़ी और भीतर का विस्तृत आकाश चेतना परिपूर्ण रहस्यमय लगा। मैंने गुरुदेव से जब अपना अनुभव बताया तो उन्होंने उसे वहत् कूटस्थ बतलाया। इसके भीतर ही सब कुछ है। वृहत् कूटस्थ साक्षी स्वरूप है और कूटस्थ क्रिया शील रहता है। यही हमारे प्राण को उर्जा प्रदान करता है जिससे हमारे समस्त कार्य सम्पादित होते हैं। शास्त्रों में भी कहीं-कहीं इनका वर्णन मिलता है। जैसे श्वेताश्वर उपनिषद में लिखा है –

"द्वासुपर्णा सयुजासखाया, समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्यः पिप्पल स्वाद्वत्य नश्नन्न्यो अभिचाकशीति ॥६॥ अ. ४

दो सुन्दर परों वाले अर्थात् कूटस्थ और वृहत् कूटस्थ जो सुन्दर ज्योतियों की छटा से आवृत हैं (इन्हीं को द्वा सुपर्णा कहा गया है)। इनमें कूटस्थ (आत्मा) इस संसार रुपी वृक्ष के फल भोगों को भोगता है और वृहत् कूटस्थ (परमात्मा निर्विकार रूप से साक्षी स्वरूप केवल देखता है। कुछ विद्वान सुपर्णा की व्याख्या में सुन्दर परों के कारण उसका अर्थ पक्षी से लेते हैं। यह ठीक नहीं है। व्यवहारिक रूप में एक पक्षी यदि कोई फल खाता हो तो दूसरा पक्षी चुपचाप देखेगा नहीं, वह भी फल खाने के लिए लड़ बैठेगा। अतः सुपर्णा का अर्थ कूटस्थ से ही है। पक्षी से अर्थ करना हास्यास्पद है। कहीं-कहीं आत्मा के वर्णन में पक्षी की उपमा दी गई है जैसे तैत्तरीयो उपनिषद् में लिखा है—

"तस्माद्वा एतस्मदन्नरसमया दन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः.......तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तर पक्षः। आकाश

आत्मा। पृथ्वी पुच्छं प्रतिष्ठा।" यहाँ आत्मा का पर, पूँछ, शिर का जो वर्णन है उससे उसको पक्षी मान लेना उचित नहीं है। उपनिषदों में जहाँ भी आप आदित्य, सविता सूर्य आदि का वर्णन पायेंगे वह सब कूटस्थात्मा का ही वर्णन है अर्थात् आत्म सूर्य का वर्णन है।

श्री लाहिड़ी महाशय की क्रिया योग में दीक्षा के समय ही क्रियावानों को दिव्य नेत्र प्रदान किया जाता है (जो अपने यहाँ पहले उपनयन के समय आचार्य तृतीय नेत्र / ज्ञान नेत्र / शिव नेत्र खोल देते थे, परन्तु आजके आचार्यों के अपने नेत्र ही नहीं खुले हैं तो यजमान के नेत्र क्या खोलेंगे?) और उसी दिव्य नेत्र या दृष्टि से वे कूटस्थ का दर्शन करते हैं। यदि मन सामान्य अवस्था में है तो एक प्रकाश देखता है। जब अधिक स्थिर और निर्मल रहता है तो कोटि सूर्य जैसा रूप देखता है एवं जब पूर्ण वैराग्य भाव से युक्त होकर निष्काम भाव को प्राप्त होकर सूक्ष्म हो जाता है, तबकूटस्थ के विन्दु की गुहा में प्रविष्ट होकर वृहत् कूटस्थ में चला जाता है। इसी कूटस्थ की गुहा को हिरण्यमय कोश भी कहा जाता है। मुण्ड कोपनिषत् में है—

"हिरण्यमये परेकोशे बिरजं ब्रह्म निष्कुलं,
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्म विदो विदुः।"

अर्थात् कूटस्थ के हिरण्यमय कोश के भीतर उसके परे (वृहत् कूटस्थ में) परमात्मा स्थित है। उसकी शुभ्र ज्योति समस्त ज्योतियों की ज्योति है। इसे केवल आत्मज्ञानी ही जानते हैं (केवल भाषा का ज्ञान रखने वाले नहीं जानते) हमारे शास्त्र साधकों द्वारा साधकों के लिए लिखे गये हैं। कोई असाधक केवल भाषा विशेष के ज्ञान से इनको नहीं समझ सकता। उसका समझना हमेशा त्रुटि पूर्ण होगा। जैसे (गोदाम) Godown का अर्थ यदि कोई go, down अर्थात् नीचे जाओ करे तो ठीक नहीं होगा क्योंकि इसका अर्थ गोदाम होता है। आईए अब देखा जाय कि इस कूटस्थ में क्या है? इसमें अपने अनुभव में जो आया अब उसका वर्णन करेंगे। यही ठीक होगा।

जब मन सूक्ष्म हो जाता है तो कूटस्थ की गुहा, जिसे भ्रामरी गुहा भी कहते हैं, उसमें प्रवेश करता है। उस समय मन बहुत छोटा हो जाता है। उस समय यदि मन में कोई भी संकल्प विकल्प रहेगा। तो प्रवेश नहीं होगा?

अर्थात् जब मन वैराग्य से पूर्ण हो जाता है और सांसारिक आकर्षण तुच्छ लगने लगते हैं, तब कूटस्थ स्थिति नक्षत्र या बिन्दु के भीतर की गुहा बड़ी प्रतीत होती है और मन बड़ी आसानी से उसमें प्रवेश कर जाता है। यदि भूल से एक भी विचार आया तो मन का प्रवेश नहीं हो सकता। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए यथेष्ट प्राणायाम करना एवं संसार की वस्तुओं की तुच्छता का विचार करने का अच्छा अभ्यास करने की आवश्यकता होती है। सर्व प्रथम प्रवेश के पश्चात् वृहत् कूटस्थ में धर्मराज का रूप परिलक्षित होता है। उनका रूप श्याम वर्ण का है। वे शांभवी मुद्रा में निर्विकार भाव से बैठे दिखते हैं। उनको देखने पर उनके चेहरे पर पूर्ण निष्काम भाव तथा किसी से कोई उनको प्रयोजन नहीं है और न कभी पड़ेगा ऐसा प्रतीत होता है। साथ ही साथ निष्कामता के साथ करुणाभाव का भी समिश्रण रहता है। (ऐसा ही निर्विकार भाव एक सच्चे न्यायाधीश का होना चाहिए अन्यथा पाप का भागी होना पड़ेगा।) उनके विशाल शरीर से स्वर्णिम प्रकाश किरणे स्फुरित होती हैं। शरीर पर स्वर्णाभूषण भी दिखता है। उनकी कृपा (Permission) के बाद ही साधक आगे जा सकता है। उनके ऊपर और दोनों पार्श्वों में दूर तक लोक लोकान्तर दिखते हैं। वहाँ से ऊपर जाने पर एक हिरण्यमय विराट पुरुष आसन करके बैठा दिखता है। परन्तु मुझे समझ में नहीं आया (उस समय गुरुदेव भी अपने पार्थिव शरीर का परित्याग कर चुके थे। अतः उसका निराकरण नहीं हो सका)। हाँ ऐसा लगा कि वह यम से विद्युत लोक के प्रायः मध्य में अवस्थित था। जो भी हो उससे (उस दिव्य पुरुष) से थोड़ा ऊपर विद्युत लोक है। विद्युत इस लिए कहा जा रहा है कि वहाँ विद्युत जैसा चमकीला श्वेत वर्ण का प्रकाश है। उसके ऊपर गहन अंधकार का मण्डल है, यही अहंकार का मण्डल है। इस अंधकार को पार करना कठिन जान पड़ता है परन्तु यहाँ पर गुरु कृपा अनायास प्राप्त होती है। गुरु कृपा, गुरु की चापलूसी करने से नहीं प्राप्त होती। हो सकता है कि चापलूसी या आडम्बर युक्त गुरु भक्ति का प्रदर्शन करने पर गुरु प्रसन्न दीख पड़ें परन्तु यह उनकी वास्तविक प्रसन्नता नहीं होती, क्योंकि यदि आप क्रिया मन से नहीं करके भक्ति का दिखावा ही करेंगे, तो इसके पुरस्कार स्वरूप आपको कुछ प्रसंसा मिल सकती है एवं अन्य शिष्यों में भक्त के रूप में प्रतिष्ठित मात्र हो सकते हैं। वास्तविक गुरु कृपा जो उस गहन अंधकार को पार करने के लिए आवश्यक, उसके लिए साधना को अपने जीवन का

प्रधान अंग बनाना आवश्यक है। खैर, इस महा अन्धकार को पार करने के पश्चात् ब्रह्म लोक है। यह बहुत विशाल एवं विस्तृत है। यहाँ प्रकाश की झलमलाहट नहीं है। इसका अपना एक विचित्र प्रकाश है जिसमें न तो प्रकाश है और न अंधकार है। यहाँ साधक कारण शरीर से प्रवेश करता है। सूक्ष्म शरीर अहंकार मण्डल में या उसके पहले उसकी बिचली सीमा पर ही छूट जाती है। वहाँ पर (ब्रह्मलोक में) भिन्सार के समय अर्थात् उषा काल के थोड़े पहले जैसा, अंधकार और प्रकाश का मिश्रित रूप रहता है। परन्तु उसमें बहुत दूर तक स्पष्ट दिखलाई देता है। उसमें छोटे छोटे ब्रह्माणु चारों ओर रहते हैं। उनकी संख्या की गड़ना असंभव है। वहाँ पर पूर्ण शांति एवं अवर्णनीय आनन्द है। इसे ब्रह्म लोक इसलिए मैंने समझा क्योंकि वहाँ स्वयं की सर्वव्यापी ब्रह्म (अहं ब्रह्मास्मि) का बोध अनायास ही होता है। उसके ऊपर दो स्तरों को पार करते समय बोध सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते-होते एक ऐसे मण्डल में प्रवेश करता है कि जहाँ बोध पूर्णतया समाप्त हो जाता है। जहाँ ब्रह्मभाव आता है, उसके ऊपर तीसरे स्तर तक जाते समय विस्तृत ब्रह्मलोक का बोध स्तर-स्तर पर क्रमशः कम होते-होते समाप्त प्रायः हो जाता है। तब उस विचित्र मण्डल में प्रवेश होता है जहाँ कुछ भी बोध नहीं रहता। जाते समय एक विचित्र खिंचाव से अपने आप कारण रूप में उसमें प्रवेश कर जाता है। वहाँ से निकलने पर (अपने आप निकलना भी होता है)-।- - - - - - ———

.... द्वितीय स्तर पर आने पर ऊपर का वह अव्यक्त मण्डल एवं नीचे वह विशाल ब्रह्म भाव से परिपूर्ण मण्डल दिखता है। ऊपर का मण्डल कुछ आकाशीय जैसा (परन्तु जो आकाश हम देखते हैं वैसा नहीं) एक विचित्र रंग हल्का-सा है। उसके जैसा अन्य कुछ मुझे अन्यत्र कभी नहीं दिखा। वह अव्यक्त मण्डल चैतन्यता से परिपूर्ण लगा। मेरे विचार से परब्रह्म मण्डल है। जो भी हो, वापस आना भी क्रमशः अपने आप ही हुआ। वापस आते समय सभी स्तरों का स्पष्ट बोध हुआ जो ऊपर जाते समय नहीं हुआ था। पुनः वही अहंकार का मण्डल आया। परन्तु लौट के आने पर उसमें अन्धकार कुछ हल्का प्रतीत होने लगा। उसके (अहंकार के नीचले स्तर पर आने पर पुनः विद्युत का प्रथम प्रकाश प्रकट हुआ और अपने सूक्ष्म शरीर का बोध हुआ। सूक्ष्म शरीर के साथ ही विद्युत का प्रथम प्रकाश दिखाई पड़ता है। यहीं से प्रकाश प्रारम्भ होता है। आगे सूक्ष्म शरीर क्रमशः लोकों को देखते हुए नीचे उतरती है। अन्त में कूटस्थ

से निकलर भ्रू मध्य में या आज्ञा चक्र में स्थिर हो जाती है तथा वहाँ से······प्राण कुण्डलिनी के साथ धीरे-धीरे क्रमशः नीचे उतरता है। साकार परमात्मा का दर्शन हृदय में होता है। इसे सूक्ष्म शरीर ही देखती है। स्थूल दृष्टि से कुछ नहीं दिखता।

इस पूरे समय में श्वांस पूर्णरूप से बन्द रहती है। श्वांस बन्द होने के पहले और पुनः शुरू होने के बाद जो प्राणायाम होते हैं (३/४ प्राणायाम मात्र) उनका वर्णन करना भी बड़ा कठिन कार्य है। वास्तव में लाहिड़ी महाशय इसी प्रकार के प्राणायाम करने को कहे हैं परन्तु हम सांसारिक लोगों के वश में सर्वदा उस प्रकार का प्राणायाम कर पाना बड़ा कठिन है। यह पूरी प्रक्रिया एक अदृष्ट शक्ति द्वारा अपने आप होती है। इसी कारण यह गुरु शक्ति का चमत्कार ही लगता है। मुझे तो पूरा विश्वास है कि मुझे यह गुरु शक्ति या गुरु की कृपा से प्राप्त हुआ। मेरे जीवन का यह अविस्मणीय समय था। यहाँ गीता के १२ वें अध्याय का ३ एवं ४ श्लोक का ख्याल आ गया—

"ये त्वक्षरमनिर्देश्यम व्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगम चिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूत हिते रताः ॥ ४ ॥

अर्थ – सर्वत्र ही समान बोध अर्थात् एकमात्र आत्म भाव प्राप्त व्यक्ति गण जिन्होंने सभी इन्द्रियों को सम्यक रूप से वशीभूत करके, अनिर्वचनीय रूपातीत, सर्वव्यापी, स्थिर ब्रह्म स्वरूप अविनाशी कूटस्थ (ब्रह्म) की उपासना करते हैं, वे सभी भूतों के हितकारी व्यक्ति मुझको प्राप्त होते हैं। अर्जुन को भगवान कृष्ण यह उपदेश दिये है। (गृहस्थी में रहते हुए सर्वदा ऐसे वैराग्य भाव बनाये रखना बड़ा कठिन फिर भी असम्भव नहीं है।)

अर्थात् जो क्रियावान कूटस्थ का प्रतिदिन क्रिया योग में गुरुपदिष्ट विधि द्वारा उपासना करते हैं; उनके सद्गति में कोई सन्देह नहीं है। कूटस्थ में प्रवेश के पथ में प्राणायाम की एक प्रधान एवं महत्व पूर्ण भूमिका होती है। अतः क्रियावानों को हमारा परामर्श है कि मन लगाकर निष्ठा पूर्वक प्राणायाम करें। श्री लाहिड़ी महाशय एवं उनके शिष्य गण अपने समस्त सांसारिक जिम्मेदारियों को एक सद्गृहस्थ की तरह पूर्ण किये एवं

रात्रिकाल में साधना करके ईश्वर को भी प्राप्त किये। दिन का समय आप सांसारिक कर्तव्यों के निर्वाह एवं परिवार-सेवा में व्यतीत करके रात्रि का समय ४ से ५ घंटे विश्राम करके बाकी साधना में लगा सकते हैं। ऐसा करने से आप का जीवन पूर्ण होगा अन्यथा एकांगी हो जायेगा। यह मानव शरीर बड़ा कीमती है। इसे पूरा का पूरा तुच्छ सांसारिकता में होम कर देना कोई बुद्धिमानी नहीं है।

श्री लाहिड़ी महाशय ने मन को विभ्रांत करने वाली वृत्तियों का उन्मूलन करने के लिए अपने क्रिया योग में एक वैज्ञानिक पद्धति का समावेश किया है, जिसके द्वारा हम वृत्तियों के उद्गम स्थान की ग्रन्थियों को समाप्त कर सकते है। इसी के आधार पर उन्होंने क्रिया स्तर को कई भागों में बाँटा है। हमारे दादा गुरु आचार्य श्री पञ्चानन भट्टाचार्या ने उनको सात क्रियाओं तक सीमित रखा है। कुछ आचार्य १६ या अधिक क्रियाओं का विधान किये है। श्री लाहिड़ी महाशय के सम्बन्ध में अपने गुरुदेव से मैंने सुना था कि ११ क्रियाएँ मूलतः वे देते थे परन्तु हमारे दादा गुरु ७ को प्रधान माने हैं। इनमें कुछ ध्यान की सहयोगी क्रियाएँ (Booster) हैं। उनको यदि मिला दिया जाय तो इनकी संख्या बढ़ जायेगी। यहाँ पर मैं सात प्रधान क्रियाओं की ही चर्चा करूँगा। सात क्रियाओं को ठीक से पूरा करने के बाद अन्य क्रियाएँ अपने आप होती हैं। यदि किसी भाग्यवान् को प्रथम क्रिया में कूटस्थ के विन्दु का भेद हो जाय तो फिर उसे अन्य क्रियाओं की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रहती।

प्रथम क्रिया – (१) गुरु प्रणाम, (२) खेचरी, (२) नाभि क्रिया (४) प्राणायाम, (५) योनि मुद्रा, (६) महामुद्रा, (७) गुरुप्रणाम। इसके विषय में आगे लिखा जा चुका हैं।

द्वितीय क्रिया – यह हृदय ग्रंथि भेद की क्रिया है। इसमें वासुदेव मंत्र के साथ प्राणायाम के कौशल से हृदय को केन्द्र करके कुम्भक द्वारा ग्रंथि भेद किया जाता है। श्री लाहिड़ी महाशय इसको नमस्कार क्रिया भी कहते थे। इसकी संख्या २०० प्राणायाम है। यह क्रिया बड़ी उपयोगी क्रिया है। जो साधक भक्ति पूर्वक इसकी पूरी संख्या को १ वर्ष या इससे कुछ अधिक काल तक यदि कर लेता है; तो उसे अन्य क्रियाओं को करने में बड़ी आसानी होती है। इस क्रिया से कुम्भक की पर्याप्त वृद्धि होती है तथा हृदय ग्रन्थि पर कार्य होता है। हृदय में वासुदेव का स्थान है। अतः वासुदेव मन्त्र को व्यापक करके इसे किया जाता है।

तृतीय क्रिया-यह द्वितीय क्रिया का विस्तारित रूप है। श्री लाहिड़ी महाशय इसे ठोकर क्रिया भी कहते थे। द्वितीय क्रिया की परिपक्वता के पश्चात् इसको करने में आसानी होती है। एक प्राणायाम में कुम्भक के साथ इसकी संख्या को प्रतिदिन एक एक करके बढ़ाकर इसे २०० की संख्या तक किया जाता है। हृदय ग्रन्थि भेद की द्वितीय क्रिया में जो कार्य बाकी रह जाता है, उसे पूर्ण करने के लिए तृतीय क्रिया का विधान किया गया है। हृदय ग्रन्थि भेद हो जाने पर सारे संशय समाप्त हो जाते हैं। साथ ही साथ संकल्प विकल्पों की संख्या भी कम हो जाती है। गीता में इसी क्रिया के आशय का एक श्लोक है।

नमः पुरस्तादथ पृष्ट तस्ते, नमोऽस्तुते सर्वत एव सर्व।
अनन्त वीर्या मित विक्रमस्त्वं, सर्वे समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।।

हे अनन्त वीर्य, अमित विक्रमी, हे सर्वात्मन आपको आगे, पीछे एवं चारों ओर से प्रणाम है। आप सर्वव्यापी एवं सर्वस्वरूप हैं। तृतीय इसी प्रकार से होती है। इस क्रिया का क्षेत्र आज्ञा चक्र एवं हृदय है। हृदय ग्रंथि भेद का प्रमाण साधकों को कूटस्थ के विन्दु भेद से जानना चाहिए। अर्थात् यदि हृदय ग्रन्थि आपकी भेदन हो गई तो आप कूटस्थ के विन्दु को भेदकर अथवा यों कहिए कि कूटस्थ की नक्षत्र गुहा में प्रवेश कर जायेंगे तथा वृहत् कूटस्थ का रूप दिखाई देगा। मेरे विचार से यही हृदय ग्रन्थि का भेद है।

चतुर्थ क्रिया—इस क्रिया में मन सूक्ष्म होकर सुषुम्णा में प्रवेश करता है और सुषुम्णा में उसकी प्राण क्षेत्र में स्थिति होती है। इसमें अनाहत ध्वनि खूब स्पष्ट आती है। साधक लय की ओर अग्रसर होता है। यह क्रिया करते कुछ साधक श्वांस रहित अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं और मन ऊपर ही शून्य में अटक जाया करता है। इससे द्वितीय और तृतीय क्रियाओं की उपलब्धियाँ और अधिक परिष्कृत हो जाती हैं। इसमें देवी-देवताओं के दर्शनादि भी हो सकते हैं। इसकी पूर्ण संख्या ३६ है।

पञ्चम क्रिया - पञ्चम क्रिया, चतुर्थ क्रिया का सूक्ष्म रूप है। चतुर्थ के पूरे क्षेत्र को सूक्ष्म करके इसमें और अधिक तन्मयता के साथ प्राण के शीर्ष भाग को उदान से युक्त रखते हैं। यह क्रिया चतुर्थ से विशिष्ट है एवं इसमें मन अधिक सूक्ष्म होकर स्थिरत्व को प्राप्त करता है। इस क्रिया में ऊपर के तीन चक्रों का क्षेत्र ही आता है।

पञ्चम क्रिया की संख्या भी चतुर्थ के बराबर ही होती है। इसी क्षेत्र में भगवान वासुदेव का साकार दर्शन होता है। साधक को वासुदेव दर्शन जब होता है तो उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती। उसको अपने अनेक जन्मों का साक्षात्कार भी दर्पण में प्रतिबिंब के समान होता है। चूँकि सामने, उसी समय, वासुदेव का मनमोहक दृश्य भी उपस्थित हो जाता है, अतः उसका ध्यान उधर खिंच जाता है। उस समय साधक के अन्दर गुरुभक्ति का यथार्थ रूप प्रकट होता है। यह रूप दर्शन भी अन्त में उसी निराकार जैसे लय में समाप्त हो जाता है। परन्तु अत्यन्त आनन्द दायी होने के कारण अधिकांश साधक उसी तरफ अधिक खिंच जाते हैं और अन्त में साकार के भक्ति मार्ग को अपना लेते हैं।

यद्यपि इस प्रकार का अनुभव विरले साधकों को इस काल में होता है तथापि जब भी होता है इसी क्षेत्र में होता है। मुझे यह अनुभव ६ठवीं और ७वीं क्रिया के बाद हुआ। यदि इस काल में साधक थोड़ा एकांत वास करके अपने मन को सब ओर से हटाकर क्रिया में लगावें और स्त्री संग आदि पर नियन्त्रण कर ले तो इस क्रिया काल में वह साकार दर्शन का आनन्द पा सकता है। चतुर्थ और पञ्चम क्रिया में आज्ञाचक्र में स्थिति बढ़ती है और सूक्ष्म शरीर से सम्पर्क होता है।

षष्टम् क्रिया—यह क्रिया थोड़ी कठिन है। इसमें ईड़ा और पिंगला की चंचलता से मन का प्रत्याहार होता है। साधक ईड़ा पिंगला में प्रवेश करके उसमें की चंचल वायु पर अधिकार जमाने की चेष्टा करता है। ईड़ा पिंगला का भरपूर मंथन करने पर उसमें बारम्बार मन के प्रवेश करने की प्रवृत्ति संयमित हो जाती है। इस संयम से उसमें राजस और तामस गुणों का ह्रास होने लगता है। इस काल में साधक को सांसारिकता के झंझट पूर्ण कार्य यदि न रहें तो उसे बड़ी सहूलियत होती है। इसमें प्रथम क्रिया का प्राणायाम ४३२ बार सवेरे और ४३२ बार रात्रि में करने से कुछ आसानी होती है।

यह क्रिया मूलाधार की आसक्ति ग्रन्थि का भेदन करने के लिए है। इसको खूब मन लगाकर करने से शरीर से सूक्ष्म शरीर को अलग करने का कौशल प्राप्त होता है। यद्यपि सूक्ष्म शरीर को अलग करने की अलग से एक क्रिया है, तथापि इससे कुछ मिलती जुलती वह क्रिया है। इसकी संख्या भी ३६ ही है। ३६ बार एक कुम्भक में इसे करने में बड़ी मेहनत और निष्ठा की आवश्यकता होती है। इसको १५ २० बार करते-करते

ध्यानावस्था भी आ सकती है। जो भी हो इसके पहले की क्रियाओं से यह अधिक कठिन है। इसको कुछ लोग कुम्भक के बिना करते हैं परन्तु विधान तो कुम्भक में ही करने का है।

सप्तम् क्रिया—यह क्रिया षष्ट क्रिया से थोड़ी भिन्न है। इसमें २०० तक जप करने का एक कुम्भक है। षष्ट क्रिया और सप्तम क्रिया मूलाधार ग्रन्थि के भेद के लिए है। इसमें षष्ट के द्वारा जो कार्य होता है, उसमें जो कुछ छूट जाता है वह इसके द्वारा पूरा किया जाता है। इसमें आज्ञा चक्र में अच्छी स्थिति होती है। इसमें भी एक प्राणायाम ही है। एक ही प्राणायाम में द्वितीय के बाद की सभी क्रियाओं को किया जाता है। परन्तु इसमें आज्ञा चक्र में जप के समय पूरी तन्मयता आ जाती है जो अन्य में नहीं होती।

जोभी क्रियाएँ हैं, उनका मूल उद्देश्य (४ से ७ वीं क्रिया का) कूटस्थ में प्रवेश करा देने का है। कूटस्थ के ऊपर कोई झंझट नहीं है। एक बार कूटस्थ में प्रवेश हो गया तो उधर फिर यह सूक्ष्म शरीर अहंकार के स्तर तक तो चली ही जा सकती है। जहाँ तक मन रहता है वहीं तक क्रियाएँ होती हैं। मन प्राण के साथ युक्त हो जाने पर प्राण (आत्म) को कोई रुकावट नहीं होती। वह विभिन्न स्तरों को आराम से पार करती हुई ब्रह्म मण्डल तक चली जाती है। सबका सारांश यही है कि मन को सुषुम्णा में प्रवेश कराओ। यदि, प्रथम क्रिया में ही हो जाय तो अन्य क्रियाओं की कोई खास आवश्यकता नहीं रह जाती। षष्ट एवं सप्तम क्रिया का मूल उद्देश्य अपान की जड़ता को समाप्त कर देना है। यदि यह हो गया तो फिर कोई समस्या नहीं रहती।

इन सब विवरणों पर लोगों (साधकों) में मत विभिन्नता हो सकती है परन्तु मेरा अपना यही अनुभव है। मुझे यह अनुभव प्रथम क्रिया के प्राणायाम करते समय सन् १९८६ में हुआ था। उसी समय अपान-अपना स्थान छोड़कर प्राण के साथ युक्त हो गया। प्राण और अपान आपस में संयुक्त होकर (प्रथम क्रिया के प्राणायाम पद्धति से ही) ४ या ५ बार ऊपर नीचे हुए। मुश्किल से चौथे प्राणायाम तक मन नाभि क्षेत्र से आवाक् होकर प्राण और अपान का एक साथ उठना देखता रहता। उसके बाद एक ही झटके में मन उनके साथ युक्त हो गया और श्वांस बन्द हो गयीं। इसके बाद तो ऊपर जाने में कोई रुकावट नहीं हुई। सभी स्तरों को पार करते चले गये और अपने गन्तव्य स्थल तक पहुँच गये।

वैसे मैं चूँकि एक साधारण क्रियावान ही हूँ, इसलिए जब यह अनुभव हुआ तो इसे मैं बाबा जी महाराज एवं गुरु बाबा की कृपा से ही यह हुआ, ऐसा मानता हूँ। गुरु कृपा ही इसमें प्रधान है। मैं ऐसा मानता हूँ कि जो क्रियावान निष्ठापूर्वक इमान्दारी से क्रिया करेगा, उसके ऊपर गुरु बाबा लोगों की दृष्टि रहती है एवं जहाँ आवश्यकता होती है, वहाँ कृपा स्वतः उपस्थित हो जाती है। अपनी मेहनत और गुरु कृपा के संयोग से साधक अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेता है।

अतएव क्रियावानों को यही परामर्श है कि निष्ठा पूर्वक क्रिया करें। क्रिया काल में अभ्यास में शिथिलता नहीं आनी चाहिए तथा क्रिया पर पूर्ण विश्वास रखना आवश्यक है। खान-पान में कोई चीज को मना नहीं किया गया है। फिर भी यदि मांस-मछली का सेवन न करे तो अच्छा है। शराब पीना एक दम उचित नहीं है। यदि किसी को पहले से अभ्यास हो, तो वे लोग धीरे-धीरे कम करते-करते उसे छोड़ दें; क्योंकि मन को स्थिर करने में बुद्धि की आवश्यता पड़ती है। यदि बुद्धि विकृत हो गई तो कौन उसे नियन्त्रित करेगा ?

आजकल धर्म पर तरह-तरह की चर्चा करना एक फैसन जैसा हो गया है। अखबारों में एवं पत्रिकाओं में धर्म के ऊपर ऐसी उटपटांग बातें होती है कि पढ़ने पर बहुत दुःख होता है। इन लेखकों को केवल पुस्तकीय ज्ञान ही रहता है। उसे पढ़कर अनेक लोग विभ्रान्त हो जाते हैं। ट्रेन में बस में लोग अनावश्यक बहस करते हुए लड़ पड़ते हैं। कोई कहता है ईश्वर निराकार है तो कोई उसे साकार कहता है। कोई अद्वैत मानता है तो कोइ द्वैतवादी है। सब लोग अपने-अपने सिद्धान्त पर अड़े रहते हैं। वे लोग साधन यदि करते तो उन्हें अपने प्रश्नों का उत्तर स्वयं मिल जाता। आइये इस पर थोड़ी चर्चा की जाय।

साकार-निराकार—यदि कोई भी चीज है अर्थात् उसका यदि अस्तित्व है, तो रूप अवश्य होगा। हो सकता वह सूक्ष्म से सूक्ष्म हो या विशाल; परन्तु एक रूप अवश्य होना चाहिए। हमारे शास्त्रों में उसे साकार और निराकार दोनों माना गया है। दूसरी बात यह है कि यदि इस सारी सृष्टि का कोई रचयिता या मालिक है, तो भी उसका एक रूप होना ही चाहिए क्योंकि वह कर्ता है। कोई भी कर्ता बिना रूप का नहीं हो सकता। यदि वह रूप वाला है, तो कभी न कभी वह रूप विनाश को अवश्य ही प्राप्त होगा। अतएव वह अविनाशी भी नहीं हो सकता।

हमारे वेदान्त में परमात्मा को अविनाशी और निराकार कहा गया है। ब्रह्मलोक में और उसके ऊपर परब्रह्म मण्डल में एक बोध मात्र है। उस चैतन्य बोध का कोई रूप नहीं है फिर भी है। उस अरूप को आप तभी बोध कर सकते हैं, जब आप भी अरूप (कारण रूप आत्मा) यदि हो जांय। उसको अव्यक्त इसलिए कहा जाता है; क्योंकि उसमें जाने पर सभी बोध भी समाप्त हो जाते हैं। कोई भी इन्द्रिय नहीं रहती। इसीलिए उसका वर्णन भी असम्भव है। श्री लाहिड़ी महाशय ने वेदान्त की टीका में कहा है कि १० ब्रह्माणु मिलकर आकाश का एक अणु बनाते हैं और १०० आकाश के अणु मिलकर वायु का एक अणु बनाते हैं। इसी प्रकार करोड़ों ब्रह्माणु मिलकर पृथ्वी का एक अणु का निर्माण करते हैं। अब आप खुद अनुमान लगाईए कि वे अणु क्या हैं। अर्थात् होते हुए भी कुछ नहीं है। आज का विज्ञान तो पृथ्वी के एक अणु और परमाणु को लेकर परिशान है। तो उसके करोड़वें भाग की क्या कल्पना कर पायेगा। अतः वह है और वह अव्यक्त है एवं अविनाशी है।

साकार रूप नारायण का जो दिखाई पड़ता है वह भी दिव्य दृष्टि से हमारी सूक्ष्म शरीर ही देख पाती है। उस रूप का वर्णन भी पूर्ण रूप से सम्भव नहीं है। वह प्रकाश का बना हुआ मायामय रूप केवल भक्तों को आनन्द प्रदान करने के लिए ही परमात्मा धारण करता है और देखते-देखते साधक को अपने में लीन करते हुए निराकार भी हो जाता है। जो उसे देखता है वह किसी दूसरे को, जो साधना नहीं करता, समझा भी नहीं सकता। वह है भी और नहीं भी। यदि आप आत्मा के साथ युक्त हो जाय तो वह निराकार आत्मा ही उस निराकार परमात्मा का साक्षात् करती है। आप इस स्थूल शरीर में इन्द्रिय बोध के साथ उसे समझ भी नहीं सकते। अतएव साधना करके स्वयं पता करें कि वह क्या है? बिना साधना किये इस पर पुस्तक पढ़कर बहस करना व्यर्थ है।

जहां तक अद्वै अद्वैत का सवाल है; इसमें हमारे विचार से कोई विवाद ही नहीं है; क्योंकि यह तो एक ही साधक की भिन्न अवस्थाओं का वर्णन है। जब परमात्मा का साधक दर्शन करता है, तब द्वैत अर्थात् साधक और परमात्मा दो रहते हैं। परन्तु वही साधक जब परमात्मा को देखते हुए स्वयं उसमें लय हो जाता है, तब अद्वैत भाव से युक्त हो जाता है। यही साधक जब परमात्मा का चिंतन करते हुए निष्काम भाव से जागति कार्यों को करता है तब द्वैताद्वैत भाव से युक्त हो जाता है। अतः

द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत ये सब एक साधक के विभिन्न स्तर के भावों या अवस्थाओं के नाम हैं। इनके अन्तरों को केवल साधक ही समझते हैं। कुछ लोग तो पुस्तक पढ़कर ही शास्त्रों को बिना साधना किये ही समझने की कुचेष्टा करते हैं और नाना प्रकार के रूपकों को न समझ पाने पर इसको बेकार और अविश्वसनीय कह देते हैं। हमारे शास्त्र ऐसे लोगों के लिए नहीं लिखे हैं। संस्कृत में एक श्लोक ऐसे पुस्तकाचार्यों के लिए लिखा है—

"यथा खरश्चन्दन भार वाही, भारस्य वेत्ता न तु चन्दनश्च।
तथैव शास्त्राणि बहूनधीत्या सारं न जानन्ति खरवत् वहेतुसः॥"

अर्थ जैसे गधे की पीठ पर चन्दन काष्ठ का गट्ठर लाद दिया जाय तो वह उसके भार को ही अनुभव करता है, चन्दन की खुशबू से अवगतनहीं होता। उसी प्रकार अनेक लोग शास्त्र को पढ़ते हैं परन्तु उसके सार को न समझकर केवल गधे की तरह उसका बोझा ही ढोते हैं। जब साहित्याचार्य या जो लोग विज्ञान नहीं पढ़े हैं, उनको यदि भौतिक शास्त्र की पुस्तक दे दिया जाय तो उनको कुछ समझ में नहीं आयेगा। तो यह (शास्त्र) तो प्राण विज्ञान है। इसे कैसे समझेंगे? अतएव किसी चीज पर विश्वास और अविश्वास का विचार व्यक्त करने के पहले उसे समझना चाहिए। अतः साधन करें तो आपके सभी संशय समाप्त हो जायेंगे।

इस समय हमारे कुछ लोग जो समाज में अग्रीणी हैं, वे अपने स्वार्थ पूर्ति के लिए समाज को भ्रमित करने के ख्याल से मनु के सिद्धान्तों की खिल्ली उड़ाते हैं। मेरा एक ही प्रश्न उनसे है कि क्या वे मनुस्मृति को समझते हैं? या पागल की तरह मात्र प्रलाप करते हैं। उन्हें तो पहले यह समझने की चेष्टा करनी चाहिए कि वे उस पुस्तक को पढ़ने के अधिकारी भी हैं या नहीं। ऐसे लोगों पर तरस आता।

"अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।"

आचार्य शंकर ने वेदान्त दर्शन के प्रथम सूत्र की अपनी टीका में लिखा है कि ब्रह्म सम्बन्धी प्रश्न वही कर सकता है जो साधन चतुष्टय

अर्थात् प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि को प्राप्त कर लिया हो। इससे तो यही अर्थ है कि समाधि का ज्ञान रखने वाला ही ब्रह्म विषयक प्रश्न कर सकता है। यदि समाधि का ज्ञाता है तो वह तो खुद जान जायेगा। अतएव इस प्रकार से उन्होंने साधना करने पर जोर दिया है। पुस्तक पढ़कर ब्रह्मचर्चा करना और शास्त्रों को बिना समझे उस पर अपने मनतव्य प्रकाश करने का यहाँ निषेध किया गया है।

क्रियावान इन सब विचारों में न पड़कर साधना करें। आपको यह जो देव दुर्लभ क्रिया एवं मानव शरीर मिला है, उसके द्वारा साधन करके परमात्मा का साक्षत् करें एवं देव दुर्लभ मोक्ष प्राप्त करें। इस संसार में जो भी ऐश्वर्य या सम्मान, धन आदि का आप संग्रह करेंगे वह सब यही छोड़कर चला जाना पड़ेगा। अतः स्वउपार्जित धन से शरीर की एवं परिवार की जरूरतों को पूर्ण करें। जो मिल जाय उसमें सन्तोष करें। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि आप उन्नतिशील न हों। आप अपनी चातुर्दिक् उन्नति करें परन्तु इसी के पीछे दिवाना न बनकर अपने प्राणदेव की भी साधना द्वारा कुछ सेवा करें। अन्यथा आप अकृत कहलायेंगे। भक्ति मार्ग के विषय में भी कुछ भ्रांतियाँ हैं। धार्मिक पुस्तकों का बिना अर्थ समझे पाठ करना, ढोल करताल के साथ कीर्तन करना, यह भजन जरूर है परन्तु भक्ति नहीं है। भक्ति का जन्म ईश्वर दर्शन के बाद होता है। उसके पहले तो श्रद्धा का ही विभिन्न रूप रहता है। भक्ति तो उस परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पण के भाव को कहते हैं। जब तक उसका दर्शन नहीं होता, तब तक आंशिक समर्पण ही हो पाता। पूर्ण समर्पण नहीं होता।

गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, मीरा, रैदास भगत, कबीर, नानक आदि जो अनगिनत महापुरुष भगवान के भक्त हुए हैं, उनको भगवान का साक्षात् दर्शन हुआ था एवं वे लोग यथेष्ठ योग साधना भी किये थे। अधिकांश भक्त साकार उपासक हुए हैं, क्योंकि साकार बहुत ही लोभनीय है। इसमें भक्ति की प्रधानता अपने आप हृदय में उमड़ पड़ती है। यदि

आप इनके जीवन का ठीक से अध्ययन करें तो आपको पता चलेगा कि इन लोगों ने कठिन साधना भी किये है। साकार भक्ति प्रधान और निराकार ज्ञान प्रधान है।

कुछ लोग उपवास करने की प्रतियोगिता करते हैं। इस उपवास के द्वारा शरीर को सुखा देते हैं। वे अपने समाज में प्रतिष्ठा पाने के लिए ही ऐसा करते हैं। मैंने कुछ लोगों को (एक सम्प्रदाय विशेष में) देखा है कि वे लोग एक-एक माह तक बिना कुछ खाये केवल जल पीकर ही रह जाते हैं। यदि पेट गड़बड़ हो तो एक दिन आप तरल या पेय पदार्थों का ही सेवन करके पेट को आराम दे सकते हैं। इसमें कोई बात नहीं परन्तु लम्बे अर्से तक भोजन न करके इस बेचारी शरीर को क्यों दण्ड देते हैं? यह तो आपका वाहन है। इसको कष्ट देने से क्या मिलेगा? यदि दण्ड ही देना है तो अपने विषयी मन को दीजिए। यह मन खुरापाती है। यह शरीर तो आपके प्राण को, पंच भूतों के द्वारा प्रकट भोगों को भोगने में आपका एक माध्यम मात्र है। इसको सबल और निरोग बनाकर इससे साधना करें तो यह आपको जन्म-मरण से छुटकारा दिला सकती है। आडम्बर युक्त साधन न अपनाएँ। ईश्वर को आडम्बर पसन्द नहीं है। झूठी प्रशंसा प्राप्त करने में या सांसारिक भोगों में अपने अमूल्य जीवन को नष्ट न करें।

अतएव हमारे ऋषियों द्वारा उपदेशित साधना करके अपने जीवन को सफल बनाइये। परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करिये अन्यथा केवल भोगों में आसक्त होकर वासनामय जीवन समाप्त कर देना मूर्खता है और पशुवत है। शास्त्र पढ़ना हो तो सद्गुरु से पढ़िये।

क्रियावानों के लिए श्री लाहिड़ी महाशय ने कहा है कि क्रिया करो। क्रिया ही गुरु है। यह क्रिया ही तुम्हारे सारे संशयों को समाप्त तुम्हारा कल्याण करेगी। तो आइये मन लगाकर अन्य विवादों से हट कर क्रिया करें। गुरु कभी मरता नहीं है। गुरु परम्परा तो नारायण से प्रारम्भ हुई है। वेही प्रथम पुरुष ब्रह्मा जी के भी गुरु थे। अतएव यदि साधन-

काल में गुरु अपना पार्थिव शरीर छोड़ भी दें, तो निराश मत होइए। गुरु आपकी व्यवस्था जरूर कर देंगे बशर्ते आप यदि निष्ठा पूर्वक क्रिया करें। कोई न कोई आपको मार्ग दर्शन के लिए अवश्य मिल जायेगा। गुरु सूक्ष्म शरीर से भी आपका कल्याण कर देंगे। क्रिया करने वालों पर गुरु की एवं परमात्मा की सर्वदा दृष्टि रहती है। मेरा यह सबसे अनुरोध है कि इसमें दिये क्रिया के विवरण को पढ़कर क्रिया करने की कोई चेष्टा न करें।

बस अब और अधिक आपका समय नहीं लेगें।

"ॐ नमो नारायणाय"

"मनवाँ चल रे गुरु के धाम"

—(कबीर)